मानस-मुक्ता-माला—दूसरा मोती

आधुनिक हिन्दी कहानियाँ

भूमिका लेखक व सम्पादक

प्रो० रामकृष्ण शुक्ल, एम० ए०, 'शिलीमुख'

प्रकाशक

सत्यदेव शुक्ल,

मानस मुक्ता-कार्यालय,

मुरादाबाद

Printed by D. N. Menwal at the S. Hari Mohan
Printing Works, PURANI BASTI, JAIPUR.

भूमिका

मानव जीवन में कहानी का मूल्य

कहानी कहना और कहानी सुनना, दोनों ही सामाजिक मनुष्य के लिए परम आवश्यक बातें हैं। बच्चा जब बहुत बड़ा भी नहीं होता तभी उसकी माता, मातामही आदि उसे कहानियाँ सुनाने लगती हैं और वह उनसे कहानियाँ सुनाने का अनुरोध करने लगता है। 'एक राजा था, एक रानी थी,' 'एक चिड़िया थी, एक चिड़ा था'—इसी प्रकार। अनपढ़ और जङ्गली लोग भी आपस में बैठ कर कहानी कहते सुनते हैं। इन कहानियों में किन्हीं कल्पित या सत्य भूत घटनाओं तथा पुरुषों का वर्णन रहता है।

कहानी का मूल रूप शायद वृत्तवर्णन ही है और इसकी उत्पत्ति संवाद से हुई है। सामाजिक जन्तु हो जाने के बाद एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मिलता और कहता है—'अमुक व्यक्ति के चोट लग गई है। उसकी तबियत बड़ी खराब है।' एक दूसरा मनुष्य किसी और दूसरे से कहता है—'कल मेरी कुछ गायें उसकी गायों के झुण्ड में मिल गईं। उसने उन्हें दुह लिया।' इन बातों में सम्वाद है और इनके कहने के ढंग में हृदय की वृत्तियों का कुछ संकेत। यही बातें एक के द्वारा दूसरों से कही जाकर परिवर्द्धित होती हुईं, संकेतों को अतिरञ्जना कर करके, यथार्थ कहानियाँ बन जाती हैं।

कहानी का उदय

:

एक स्थान की बात मुँह-दर मुँह जगह-जगह क्यों कही और सुनी जाती है? इसके रहस्य में मानव स्वभाव की एक और मूल प्रवृत्ति, उत्सुकता, का अस्तित्व है। मनुष्य-वर्ग का जन्तु अपने सजातियों के सम्बन्ध में कुछ कहना-सुनना चाहता ही है-जिज्ञासा से नहीं, केवल उत्सुकता के विनोद के लिए।

.

साहित्य में कहानी का आगमन लेखन के आरम्भ से हुआ है। अथवा, क्या यह नहीं कह सकते कि लेखन का आरंभ भी कहानी से ही हुआ है? प्रारम्भिक मनुष्य के सब कार्य आवश्यकता की मजबूरियों से हुआ करते थे। सवर्गियों,

कहानी की प्राचीनता

मित्रों तथा सम्बन्धियों के अलग अलग और दूर दूर फैल जाने पर उन तक आवश्यक सम्वाद पहुँचाने की आवश्यकता अनुभूत हुई ही होगी। पहले यह काम सम्वादवाहक ने किया, परन्तु बहुत लम्बी या किञ्चित गुप्त बातें उससे कहलाने में कठिनाई भी हुई होगी। तब इसी सम्वादरूप मूल कहानी के लिए लेखन की भावना का प्रादुर्भाव हुआ और तदुपरान्त प्राथमिक लेखन का। अतएव कहानी साहित्य की सब से पुरानी सम्पत्ति है, और सबसे प्यारी भी।

संसार का जितना पुराने से पुराना साहित्य है, सब में किसी न किसी रूप में वृत्तवर्णन विद्यमान है। मानवजाति का सब से पुराना साहित्य, ऋग्वेद, देवताओं की प्रार्थना के रूप में है; परन्तु उस प्रार्थना में ही हम जगह जगह कहानी का मूल रूप देख लेते हैं। लोग इन्द्र से प्रार्थना करते हैं, यज्ञ में उसका आह्वान करके हरी हरी घास पर उसे बिठाते हैं और सोमरस पिलाकर उसकी शक्तिवृद्धि करते हैं; इन्द्र वृत्र को मारता है और उसके बाड़े में से वन्दिनी गायों को मुक्त कर देता है। इसके अतिरिक्त, कहीं तो वास्तविक कहानियाँ ही दी हुई हैं। उनमें वार्तालाप है, चरित्र है, प्लॉट है, भूमि है। शुनःशेप की कथा, सरमा-पणि-सम्वाद, यम-यमी-सम्वाद, आदि इसके उदाहरण हैं। यदि हमारे पूर्वजों का पूरा साहित्य उपलब्ध होता तो, अनुमान किया जा सकता है कि, एक नहीं, सहस्रों यथार्थ कहानियाँ संकलित की जा सकतीं।

इसके अनन्तर लोगों में धीरे धीरे साहित्य, कला, आदि की भावनाएँ जागरित होने पर कहानी कहने के बहुत से ढँग उपस्थित हुए। नाटक, आख्यायिका, प्रबन्धकाव्य, चम्पू आदि अनेक रूप देखने में आए। परन्तु, किसी भी रूप में हो, कहानी का कहा जाना कभी बन्द नहीं हुआ।

वर्तमान समय में कहानी (short story) का बहुत अधिक प्रचार हो गया है और साहित्य में यह एक विशेष प्रकार की रचना का पारिभाषिक नाम-सा हो गया है।

साहित्य में आधुनिक कहानी का स्थान

उपन्यास, नाटक, आदि दूसरे प्रकार की कहानियों से इसमें विशेष विभिन्नताएँ हैं। प्रायः वह कहानी दूषित समझी जाती है जो छोटा उपन्यास-सा मालूम होती है। पाश्चात्य देशों में, विशेषतः अमरीका में, कहानी-शिल्प की परिभाषा निर्धारित करने में अधिक सावधानी दिखाई गई है।

वर्तमान भारतीय साहित्य की छोटी कहानियाँ अब एक प्रकार से पश्चिमीय आदर्शों की ही वस्तु हैं। अंग्रेजी साहित्य का हमारे ऊपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ने के कारण हमारे अधिकांश साहित्य का—विशेषतः गद्य साहित्य का —रूप, आकार भाव आदि पश्चिमीय ढँग का ही है। हमने अनुकरण कर लिया है। परन्तु उसके सिद्धान्तों की जिज्ञासा अभी हममें तीव्र नहीं हुई है।

हिन्दी की कहानियों पर अँग्रेजी और बँगला दोनों का प्रभाव

है। अंग्रेजों से बंगालियों ने सीखा और बंगालियों से हमने। बंगालियों का पहले सीखना स्वाभाविक था। अंग्रेज पहले-पहल बंगाल में ही प्रतिष्ठित हुए थे और उनके साहित्य का पहले वहीं प्रचार हुआ था। हिन्दी साहित्य अभी तक पुराने ढँग पर चल रहा था। धीरे-धीरे बँगला साहित्य के सम्पर्क से उसमें नवीन परिवर्तन आरम्भ हुआ।

हिन्दी कहानी का पूर्व-रूप—उपन्यास—कथा और आख्यायिका

हिन्दी की पुराने ढँग की कहानियों के उदाहरण सदल मिश्र के "नासिकेतोपाख्यान" या इंशाउल्लाखाँ की "रानी केतकी की कहानी" से दिए जा सकते हैं। पुराने संस्कृत काल के उदाहरण "कादम्बरी" और "दशकुमारचरित" आदि हैं। परन्तु "रानी केतकी की कहानी" या "नासिकेतोपाख्यान" को, अथवा "कादम्बरी" या "दशकुमारचरित" को, आधुनिक दृष्टि से, उपन्यास कहने में भी कोई हानि नहीं दिखाई पड़ती। "रानी केतकी की कहानी" या नासिकेतोपाख्यान' और लल्लूजी लाल के "प्रेमसागर" में आकार के अतिरिक्त सिद्धान्त का कोई भेद नहीं है। जनसाधारण का यह विचार कि उपन्यास और कहानी में एकमात्र आकार का ही विभेद है, बड़ा भ्रामक है। यह सत्य है कि आकार की दृष्टि से कहानी को एक विशिष्ट परिधि के भीतर रहना पड़ता है; परन्तु केवल इतने ही से कहानी और उपन्यास का भेद निर्धारित नहीं हो जाता है। ऊँट और खरगोश के भेद को समझने के लिए केवल

यह कहने ही से काम नहीं चल जाएगा कि इनमें से एक बड़ा होता है और दूसरा छोटा।

वास्तव में, अंग्रेजी साहित्य के परिचय से पहले कहानी और उपन्यास जैसी दो विभिन्न चीजें भारतीय साहित्य में थीं भी नहीं। कहानी और आख्यायिका का भेद कृत्रिम था जिसमें केवल यह देख कर कि कोई वृत्तवर्णन उच्छ्वासों में विभक्त है या नहीं, अथवा वह नायक कथित है या अन्य-कथित, उसे आख्यायिका का या कथा का नाम दे दिया जाता था। यह यही कहने के बराबर है कि जो मनुष्य खुले गले का कोट पहनता है वह अंग्रेज है और जिसके कोट का गला खुला नहीं है वह हिन्दू है। यह भेद केवल परिधान का था, जिसको मुख्यता दे दी गई थी, आत्मा के किसी भेद का कोई जिक्र नहीं है। इसीलिए, दूसरों को सम्मतियाँ दे चुकने पर, दण्डी ने कथा और आख्यायिका के भेद का निराकरण करते हुए कहा है— 'तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता। अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः।' अर्थात् कथा और आख्यायिका दो भिन्न नामों वाली एक ही वस्तु है। इसी में दूसरे कथा-प्रकारों का भी अध्याहार हो जाता है। दूसरे कथाप्रकार उपकथा, परिकथा, आदि हैं। तथापि, यदि उपन्यास और कहानियों में से किसी एक वर्ग में कथा या आख्यायिका की गणना की जा सकती है तो उपन्यास में। प्रारम्भिक वृत्तवर्णन का अभिप्राय उत्सुकता के विनोद के लिए एकमात्र

वृत्तवर्णन करना ही था। धीरे धीरे जब ललित साहित्य में जाति-विभाग हुआ तो भी यह उद्देश्य एक प्रकार से अक्षुण्ण ही रहा और जातियों के विभेदक सिद्धान्त रूप आदि के सिद्धान्त रहे। इससे बहुत पहले, भारत में, यहाँ की विशेष धर्मजिज्ञासा के कारण, समस्त साहित्य की परिचालक कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ अवश्य बन गई थीं, जो उच्च वृत्तियों की पोषक थीं, आशावाद जिनका मूल सूत्र था, और सद्गुणसम्पन्न पात्रों की सुखपरिणति द्वारा जिन में गौण उपदेश का समावेश रहता था। अतः नाटक, काव्य, कथा, आख्यायिका आदि में, सर्वत्र, हम इस सिद्धान्त को समान रूप से देखते हैं। परन्तु कथा या आख्यायिका या उपन्यास और कहानी (short story) के जैसे किसी उद्देश्यमूल सिद्धान्त को हम उस समय नहीं पाते। प्राचीन साहित्य, या साहित्यों में हम गद्यकाव्य की किसी बलवती प्रेरणा को भी नहीं देखते, क्योंकि वृत्तवर्णन के जो व्यापक सिद्धान्त साहित्य की उपचेतना में पैठ चुके थे वे पद्यकाव्य और नाटक में भी सार्थक हो सकते थे, और इनमें शायद अधिक अच्छी रीति से।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उस काल में कहानी या short story लिखने की सामर्थ्य लोगों में नहीं थी।

पुराने साहित्य में आधुनिक कहानी का मूल

हितोपदेश और ईसप की कहानियों का अधिकांश अन्तरंग उद्देश्य की दृष्टि से आजकल की Short Story का पूर्वरूप हो सकता है। परन्तु आजकल की कहानियों से

उनमें सब से बड़ा भेद यह है कि उस उद्देश्य के बीजमात्र के दर्शन उनमें होते हैं; उनका मूल सिद्धान्त परम स्पष्ट उपदेश करना है जिसके लिए वे शिल्प की ओर ध्यान न देकर प्रायः सर्वत्र चुटकुलों के रूप में ही रह गई हैं और प्राकृतिक, अप्राकृतिक, किसी भी प्रकार का, रूप ग्रहण कर लेती है। उनमें मनुष्य की मनुष्य के प्रति समवेदना और उत्कण्ठा जागरित करने का प्रयास नहीं है, जिसके कारण भिन्न भिन्न मानव वृत्तियों का आश्रय छोड़ कर वे अधिकतर सब वार्ता को केवल अद्भुत के रूप में कह डालती हैं। रस-परिपाक की ओर निरपेक्ष होने के कारण वे काव्य की कोटि में नहीं आतीं। आजकल की कहानियाँ काव्य का एक अङ्ग हैं।

तब कहानी या short story है क्या? बहुत सी बातों का ज्ञान हमको अन्य बातों से उनकी तुलना करने तथा उनके पारस्परिक विभेदों का पता लगाने पर हुआ करता है। कहानी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी हमको पहले यही करना होगा। नाटक, प्रबन्धकाव्य आदि दूसरे वृत्तप्रकारों से जो भेद इस में हैं वे प्रत्यक्ष हैं। उपन्यास से इसमें जो विशेषताएँ हैं हमको उन्हीं की खोज करनी होगी, क्योंकि कहानी का सब से अधिक साम्य उपन्यास के साथ ही है जिसके कारण इन्हीं दोनों में एक दूसरे से पारस्परिक आरोप और आक्षेप का भय किया जा सकता है। परन्तु इस चेष्टा में अग्रसर होने से पूर्व हमको वृत्तकाव्य, विशेषतः

उपन्यास और कहानी, की सामान्य आवश्यकताएँ ज़ान लेनी चाहिएँ।

जितनी कथाएँ कही जाती हैं वे अतीत की आश्रित होती हैं। कल्पित या यथार्थ, हो चुकी घटनाओं अथवा होचुके मनुष्यों का ज़िक्र ही कहानी में होता है। कहने वाला हमसे इस प्रकार कहता है मानो उसने उन घटनाओं और मनुष्यों आदि को देखा हो, मानों उसने उनका स्वयं अनुभव किया हो। वह उनके ज़रा ज़रा से कार्यों, ज़रा ज़रा से रहस्यों, ज़रा ज़रा सी बातचीत के ज्ञान का दावा करता है, यहाँ तक कि अपने पात्रों के हृदयों के भी गुप्त से गुप्त रहस्यों को वह जानता है। हम उसका विश्वास करते हैं और उसके अनुभवों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेते हैं।

वृत्त-रूप साहित्यिक कहानी के स्वाभाविक अंग—अनुभव का आधार

किसी अनुभव को दूसरे से कहने में स्मरणशक्ति की आवश्यकता पड़ती है। कहानी कहने वाले को भी अपनी अनुभव-रूप कहानी कहने में स्मरण की—परन्तु उससे अधिक विस्मरण की—आवश्यकता होती है। यही विस्मृति-प्रधान स्मृति कहानी-कार का सर्वस्व है। क्योंकि किसी अनुभव के समय हमारे भीतर एक साथ न मालूम कितनी संवेदनाएँ और उपचेतनाएँ उठती हैं जो बहुत अस्पष्ट और आकुलित सी

स्मृति-विस्मृति की महत्ता। संवेदना या sensation

रहती हैं। रेल की यात्रा करते समय, गाड़ी की गड़गड़ाहट, यात्रियों का लड़ाई-झगड़ा, बाहर के खेतों और जंगल का दृश्य, हवा की तेजी, धुएँ की बदबू से लेकर आपकी बीड़ी पीने की एक अस्पष्ट कामना, टाँग फैलाने के लिए जगह की तंगी, थर्ड क्लास की लकड़ी की बर्थ पर बैठने की असुविधा, कुछ छोड़े हुए स्थान की स्मृतियों और कुछ उद्दिष्ट स्थान की कल्पनाओं तक असंख्य छोटी-छोटी बातें प्रतिक्षण अज्ञात रूप से आप के तात्कालिक अनुभव को घनीभूत और संकुलित करती रहती हैं। इस तमाम अनुभव-समष्टि को स्वयं ही समझना कठिन रहता है, दूसरे के सामने दुहराना तो असम्भव है। अतः जब हम अपना अनुभव दूसरे के सामने कहते हैं तो न मालूम कितनी असंख्य बातें उसमें से छूट जाती हैं। जो याद रह जाती हैं वही कही जाती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जो बातें याद रह जाती हैं वे हमारे अनुभवों का परम तीव्र और प्रधान अङ्ग होती हैं। स्मरणशक्ति का यह गुण है कि यह अति प्रधान को ग्रहण कर अति गौण को छोड़ देती है जिससे हमारे अनुभवों में सरलता और क्रमबद्धता आ जाती है। किसी प्रकार की कहानी लिखने वाले के लिए भी उसके अनुभव-समूह में जो बात सब से अधिक उसके हृदय पर प्रभाव डालती है, जिससे उसकी संवेदना पर सब से अधिक आघात होता है, वही उसकी स्मृति से छन कर उसकी कहानी का लक्ष्य बन जाती है।

स्मृति की इस स्वाभाविक क्रिया के साथ साथ, साहित्यिक कहानी-लेखक के लिए विस्मरण का महत्त्व और भी बड़ा है। अनुभव की बहुत सी अनावश्यक बातें तो अपने आप ही विस्मृत हो जाती हैं; परन्तु अनेक बातें पिछलगे की भाँति स्मृति के लपेट में चली भी आती हैं और प्रधान संवेदना को विभ्रान्त करती रहती हैं। यदि लेखक की संवेदना अति तीव्र नहीं है तो उसका इन पिछलगों से छुटकारा नहीं। अतएव अपने अनुभव के जिन तथ्यों से वह सर्वाधिक प्रभावित होता है उनसे वह फिर इतना अधिक प्रभावित होता है कि पिछलगों को अवसर ही न मिलने दे। गार्डिनर ने स्मृति को ही तमाम महत्त्व दे डाला है, परन्तु वास्तव में साहित्यकार के लिए अनावश्यक की सहज और निपुण विस्मृति के बिना उसकी स्मृति एक कलङ्क बन जाती है।

प्रस्तुत संग्रह में से किसी एक कहानी का हम उदाहरण ले सकते हैं। मान लीजिए कि 'आत्माराम' एक सच्ची कहानी है और इसमें जो जो प्रसंग दिए हुए हैं, वे सब लेखक के प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु हैं। हम यह भी मान सकते हैं कि लेखक ने रात दिन महादेव के साथ रह कर, उसका निरीक्षण किया है। ऐसी अवस्था में न मालूम कितनी असंख्य संवेदनाएँ प्रतिक्षण लेखक को हुई होंगी। उन सब का वर्णन असम्भव था। यदि नहीं भी, तो उनके लिखने में सहस्रों पृष्ठ का एक पोथा तैयार हो जाता। अतः, लेखक के ऊपर उनमें से, जिनका सब से अधिक प्रभाव

पड़ा, कालक्रम में वही स्मृति में रह गई और 'आत्माराम' के रूप में लेखबद्ध हुई। साथ ही, इस कहानी में स्मृति से अधिक महत्व उन बातों के विस्मरण का है जो उसमें नहीं दी जा सकी हैं। यदि अपने अनुभवों को कहानी-बद्ध करते समय पिछलगों की स्मृति भी लेखक के मन में उतनी ही तीव्र रहती जितनी कि कहानी के मुख्य तत्व की तो मुख्य तत्व की तीव्र संवेदना नष्ट हो जाती और लेखक अपने उद्देश्य से भ्रष्ट हो जाता। फिर भी दो एक पिछलगे रह ही गए हैं, जैसे महादेव की चोरी के बहाने पण्डितजी का रुपए माँगना, जिनको लेखक नहीं भुला सका। हम देख सकते हैं कि पण्डितजी की नीचता से महादेव की नवीन जाग्रति के प्रधान तथ्य को अधिक तीव्रता नहीं प्राप्त होती, बल्कि पाठक की संवेदना उस प्रधान तथ्य से प्रक्षिप्त होकर, क्षणमात्र के लिए, उस तीव्रता को विकृत कर देती है। विस्मरण के महत्व का इस बात से अनुमान किया जा सकता है कि जब कोई व्यक्ति अपने अनुभवों को विस्तार के साथ हमसे बयान करने लगता है तो हम व्यग्रता के साथ प्रायः उससे कह उठते हैं—"हाँ, हाँ, इन बातों को छोड़ो। जो खास बात है उस पर आओ।" साधारण लेखकों की कृतियों में प्रायः ऐसे अप्रासंगिक और निरर्थक स्थल भरे रहते हैं जिनसे पाठक शीघ्र ऊबने लगता है; इसी लिए कि उन लेखकों ने विस्मृति के द्वारा अपनी स्मृति के संशोधन का अभ्यास नहीं किया है।

काल्पनिक वृत्तों में अनुभव नहीं होता और इसलिए उनमें स्मृति-विस्मृति का प्रश्न नहीं उठता, यह न समझना चाहिए। कवि तथा वृत्तलेखक के लिए साक्षात्कार का सिद्धान्त परम आवश्यक सिद्धान्त है। अतः यद्यपि उसे सम्यक् भौतिक साक्षात्कार प्रायः नहीं होता, तथापि मानसिक साक्षात्कार उसे अवश्य करना पड़ता है। यथार्थ भौतिक तथ्यों के आधार पर, काल्पनिक वृत्त में, लेखक अपने मानसिक जगत् के भीतर उन सब व्यक्तियों और घटनाओं की असंख्य क्रीड़ाएँ देखता है जिनका उसके वृत्त में वर्णन रहता है। वास्तव में, इस मानसिक अनुभव में वह उन मनुष्यों और घटनाओं से कहीं अधिक मनुष्यों और घटनाओं का साक्षात्कार करता है। इनमें से कुछ थोड़े ही मनुष्य और घटनाएं उसकी स्मृति में रह जाते हैं; शेष सब विस्मृत हो जाते हैं। इस प्रकार काल्पनिक वृत्त में स्मृति-विस्मृति का दुहरा उत्तरदायित्व रहता है; एक बार महादेव, आत्माराम, पण्डितजी जैसे कुछ वास्तविक भौतिक आधारों में से बहुतों को विस्मृत कर लेखक शेष को अपने मानसिक जगत् में लाता है, जहाँ मैत्री-न्याय से उनके और अनेक सहचर हो जाते हैं; और दूसरी बार वह इस मानसिक जगत् में से अपने अत्यन्त संवेदी तथ्यों का संकलन करता है।

काल्पनिक वृत्त और अनुभव

हमारी संवेदना के मार्मिक कोण पर ही हमारी स्मृति विस्मृति

का कार्य निर्भर रहता है। एक ही प्रकार की अनुभव-सामग्री में से एक व्यक्ति को एक बात प्रभावित करेगी और दूसरे को दूसरी। 'आत्माराम' की सामग्री में लेखक को महादेव की नवीन जाग्रति ने सब से अधिक प्रभावित किया है जिसके कारण एक प्रकार की घटनावली कहानी में दृष्टिगोचर होती है, दूसरा व्यक्ति उसी सामग्री में से शायद पण्डितजी की नीचता से प्रभावित होता और तब उसकी स्मृत-विस्मृत घटनावली दूसरी ही होती। इसके अतिरिक्त कोई व्यक्ति घटना से अधिक संवेदित होता है; कोई व्यक्ति और व्यक्ति के चरित्र से; कोई किसी भाव या विचार की तीव्र अनुभूति से; कोई स्थान तथा वातावरण से। फलस्वरूप कोई वृत्त घटना-प्रधान होता है, कोई चरित्र-प्रधान, कोई भावप्रधान और कोई वर्णनप्रधान। इस संग्रह में 'मालगोदाम में चोरी', 'चम्पी की चिड़िया' 'उसने कहा था' और 'शान्ति निकेतन' क्रमशः इसके उदाहरण हैं।

अनुभव में लेखक के दृष्टिकोण का महत्त्व

इतनी समीक्षा से हमको वृत्तकाव्य के सम्बन्ध में दो-तीन सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। लेखक अपने वास्तविक अनुभव की असम्भव पूर्णता में से कुछ ऐसे प्रसंगोचित तथ्यों को चुन लेता है जो क्रम से रक्खे जाने पर पाठक के हृदय में उसके वृत्त की यथार्थता की अनुभूति तथा चित्ताकर्षकता उत्पन्न करते हैं। वास्तविकता की अनुभूति जितनी सार्थक तथ्य को चुन सकने पर निर्भर करती है

उतनी और किसी बात, चरित्र या घटना तक, पर नहीं। क्योंकि चरित्र और घटनाएँ वास्तविक होने पर भी, उनकी सार्थकता का निर्णय लेखक के संवेदना-कोण से ही होगा। सचमुच मे, सार्थक तथ्य के ऊपर ही चरित्र, घटना या वातावरण की यथार्थता निर्भर रहती हैं। लेखक की संवेदना ही वह वस्तु है जो उसके सम्पूर्ण चित्र को विविध रंगों से रञ्जित करती है और चरित्र आदि को रूप प्रदान करती है। इससे वृत्तकवि के सम्बन्ध में दो और सिद्धान्त हमको प्राप्त होते हैं। जिस मर्मस्पर्शी तथ्य से लेखक संवेदित होता है उसकी संवेदना इतनी तीव्र होनी चाहिए कि वह वृत्त के अन्य सब तथ्यों को अधिष्ठित कर ले। फलतः हम यह भी आशा करेंगे कि लेखक की कृति में उसकी स्वकीय सहृदयता और राग-विराग-मयी प्रवृत्ति की सच्ची अनुरञ्जना हो। दूसरे शब्दों में, उसका सच्चा मानवी व्यक्तित्व उसमें वर्तमान हो। यदि उसे सच्ची संवेदता हुई है तो वह अपने व्यक्तित्व को छिपा नहीं सकता। वृत्तकवि और इतिहासकार के कर्मों में विशेष विभिन्नता इन्हीं बातों से पैदा होती है। इतिहासकार आत्मानुभव की ऐसी अपेक्षा नहीं करता।

लेखक के अनुभव के प्रथम आधार मनुष्य और उनके कार्य हैं। इसके अनन्तर, उसकी विशेष वृत्तियों के साहचर्य से, भाव

अनुभव के मूल

और विचार आदि। इन सब के लिए एक

आधार–स्थान, व्यक्ति सामान्य आधार स्थान, परिस्थिति या वाता-

और कार्य

वरण है। जब कोई लेखक अपने वृत्त की

मूल सामग्री का पहले-पहल अनुभव करता है तो वह स्थान को, व्यक्तियों को और उनके कार्य को देखता है। अतएव उसकी कृति में स्थान, व्यक्ति और कार्य अवश्य होंगे। आख्यायिका-साहित्य की परिभाषा में हम इन्हें विपरीत क्रम से प्लॉट, पात्र और वातावरण कहेंगे। प्लॉट उन तमाम घटनाओं की व्यवस्थित समष्टि है जिनका दर्शन हमको कहानी में होता है; पात्र उन घटनाओं के अधिनेता या अधिनीत हैं; और वातावरण स्थान-तथा-अवसर-सम्बन्धी परिस्थिति है। इन तीनों से प्राप्त अनुभव में लेखक को अपनी संवेदना का स्थल मालूम होजाता है। और फिर उसी संवेदना का स्पष्टीकरण तीनों का उद्देश्य होजाता है। लेखक तीनों तत्वों का पूर्ण उपयोग करता हुआ भी अपनी चोट को दिखाने के लिए लालायित रहता है। इस चोट को सफलता-पूर्वक दिखाना ही कला है।

कार्य-मूल प्लॉट की आवश्यकताएँ— क्रमबद्धता

क्रमबद्धता प्लॉट का एक अति आवश्यक गुण है जिससे वृत्त की घटनावली कारण-कार्य-पद्धति से पाठक के मन पर सरलता से असर करती जाती है। प्लॉट की घटनाओं की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि एक घटना दूसरी घटना से स्वाभाविक रूप से सम्बद्ध हो और आगामी परिणामों का पूर्ववर्ती प्रसङ्गों से स्वाभाविक निस्सार हो। परन्तु घटनाओं के कारण-कार्य-सम्बन्ध में यह देखने की बात है कि वह बल-पूर्वक बिठाया गया सा न मालूम हो। इसी से यह भी सिद्ध

होता है कि प्लॉट, या प्लॉट की घटनावली गतिशील हो, स्थिर न हो, प्रत्येक घटना सोद्देश्य हो और उसका उद्देश्य मुख्य संवेदना के अधिकाधिक स्पष्टीकरण की ओर अग्रसर होता हो। यथार्थ अनुभव की असंख्य बातें लेखक के वृत्त में नहीं आ पाती हैं, यद्यपि उनमें से बहुतों का लेखक की संवेदना जागरित करने में उत्तरदायित्व होता है,—वृत्त में केवल कुछ थोड़ी सी परम सार्थक बातों के द्वारा ही पूर्ण संवेदना उत्पन्न करने की चेष्टा रहती है। अतः गतिशीलता के साथ साथ प्रत्येक उपस्थित घटना में कुछ नाटकीय प्रभाव अर्थात् वेग और क्षिप्रता की भी आवश्यकता रहती है। जहाँ दो चार, या दस बारह, घटनाओं में ही कथा समाप्त होती है वहाँ एक की भी अलसता कहानी में अनर्थ उपस्थित कर देने के लिए पर्याप्त है। गतिशीलता और वेग का प्रभाव यह होगा कि यद्यपि घटनाएँ एक एक करके पाठक की दृष्टि से ओझल होती जाएँगी, परन्तु उनका प्रभाव अन्त तक बना रहेगा और वह संवेदना के सञ्चित उत्कर्ष का साधक होगा।

मौलिकता

प्लॉट के सम्बन्ध में उसकी मौलिकता एक दूसरा विचारणीय प्रश्न है। मौलिकता, वास्तव में, नए प्लॉट बनाने या एकदम नई घटनावली ढूँढ़ निकालने में नहीं है; क्योंकि प्लॉट वृत्त की आत्मा नहीं है। एक अँग्रेजी कहावत के अनुसार संसार में केवल सात मूल कहानियाँ हैं। यही भिन्न भिन्न लेखकों द्वारा, घुमा-फिरा कर, नई नई संवेदनाओं के साथ, असंख्य रूपों में हमारे

सामने लाई जाती हैं। मौलिकता संवेदना की है। एक विभिन्न संवेदना की प्रेरणा से वही घटनावली एक दूसरी कहानी बन जाती है। "आत्माराम" का दृष्टिकोण बदलने से वही एक नई मौलिक कहानी हो जाएगी। अतएव प्लॉट की मौलिकता संवेदना की विलक्षणता और तदनुरूप घटना-विन्यास में ही है। अन्यथा प्लॉट एक ढाँचा भर है जो संवेदना और भावों की व्यञ्जना से विहीन होने पर किसी का चित्ताकर्षण नहीं कर सकता। ऐतिहासिक कहानियों के लेखकों को हम अमौलिकता से कलंकित नहीं करते; क्योंकि, उनके प्लॉट, पात्र आदि "उधार के" होने पर भी उनमें लेखक का निजी, संवेदनात्मक और विलक्षण, व्यक्तित्व मौजूद रहता है।

व्यक्ति या पात्र—चरित्र

पात्रों की कल्पना में उनके चरित्र की ओर हमारा ध्यान जाता है। प्रत्येक पात्र कुछ कार्य करता है जिसकी निर्धारक उसकी व्यक्तिगत प्रवृत्ति होती है, और इस प्रवृत्ति का निर्धारण लेखक के संवेदना-कोण से होता है। जिस लक्ष्य पर लेखक की दृष्टि होती है उसके पात्र उस लक्ष्य के उद्देश्य से ही प्रवृत्त होते और कार्य करते हैं। जिस प्रकार प्लॉट की तमाम घटनावली अन्ततोगत्वा एक ही संवेदना को उद्दीप्त करने के लिए अग्रसर होती है उसी प्रकार विविध

प्लॉट और चरित्र का सम्बन्ध

पात्रों की प्रवृत्ति भी, विरोध से या अविरोध से, उसी केन्द्र पर जाकर स्थित होती है।

उनकी यही प्रवृत्ति उनका चरित्र-निर्माण करती है। लेखक देखता है कि अपनी संवेदना की चरितार्थता के लिए वह केवल सार्थक चरित्र तथ्यों की ही अपने स्मृति-कोष में खोज करे।

चरित्र में अनुरूपता और स्वाभाविकता

इसका अभिप्राय यह है कि पात्रों के पृथक् पृथक् चरित्र में पूर्वापर अनुरूपता हो। साथ ही सत्यता या स्वाभाविकता का होना भी आवश्यक है। यदि एक रोज गवर्नर साहब चहल-कदमी करते हुए चौक-बाजार में आ निकले और खोन्चे वाले के पास बैठ कर कचालू की चाट खाने लगे, तो यह बात तर्कशास्त्र की दृष्टि से संभव तो अवश्य कहलाएगी, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से स्वाभाविक न होगी। घटना-नियोग में क्या, और चरित्र में क्या, लेखक को स्वाभाविकता का सदैव ध्यान रखना चाहिए। असम्भव का वह कहीं कहीं भले ही प्रयोग कर सकता है, जैसा कि अलीक कथाओं (Fairy Tales) में प्रायः होता है, परन्तु अस्वाभाविक से उसे सदैव दूर रहना चाहिए। लौकिक दृष्टिसे अस्वाभाविक चरित्रों में हम उनकी भी गणना कर सकते हैं जो एकदम अच्छे या एकदम बुरे हैं अथवा अन्य किसी प्रकार से अति अलौकिक हैं। सामान्य मानवता के चित्रों में "जोजन चार मूँछ रहि ठाढ़ी" वाले मनुष्यों को दिखाना कहाँ तक समीचीन होगा? यदि ऐसे चरित्रों का कहीं प्रयोग किया भी जाता है तो बहुत सोच-समझ कर किया जाना चाहिए।

जहाँ तक सम्भव हो चरित्रों का प्रकाश पात्रों के द्वारा ही हो-

उनकी बातचीत के अथवा उनके कर्मों के द्वारा । जीवन में हम लोगों के चरित्रों का इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त करते हैं । कहानी में भी यही स्वाभाविक होगा । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लेखक को अपनी तरफ़ से चरित्र के सम्बन्ध में कुछ कहने का अधिकार ही नहीं है । लेखक ने अपने पात्रों के चरित्र का जैसा अनुमान किया है पाठक की सहायता के लिए वह अपनी ओर से उसका आभास दे सकता है, परन्तु साथ ही अपने अनुमानों को आवश्यक तथ्य द्वारा पर्याप्त मात्रा में उदाहृत करना भी उसका कर्त्तव्य है । किसी चरित्र को क्रोधशील या विनयसंपन्न बतला कर उसके क्रोध या विनय का उदाहरण न देना कितना विघातक और निरर्थक होगा ? परन्तु ऐसे कलाकार भी होते हैं जो अपनी ओर से कुछ न कह कर भी चरित्र को पूर्ण रूप से चरितार्थ कर देते हैं और संवेदना की तीव्रता को बहुत अधिक बढ़ा देते हैं । इस संग्रह में 'उसने कहा था' और 'आकाशदीप' ऐसी कहानियाँ हैं । इसमें संदेह नहीं कि साक्षात्कार की उपचेतना से हमारी संवेदना जितनी तीव्र होगी उतनी गौण परिचय से नहीं । चरित्रों की क्रीड़ा स्वयं अपने सामने होते देख कर हम उनसे जितने अधिक प्रभावित होंगे उतने लेखक के वर्णन से नहीं हो सकते । 'उसने कहा था' में लेखक कहीं हमको संबोधित तक नहीं करता, हमको यह मालूम ही नहीं होता कि वास्तव में कोई लेखक हमसे कहानी कह रहा है । तथापि अपने सम्वेदना-स्थल पर वह

चरित्र-चित्रण का उत्तम रूप

हमको ऐसी गहरी चोट देता है कि बहुत समय तक याद बनी रहती है।

वातावरण या स्थिति-परिस्थिति भी किसी प्रकार की कहानी अथवा वृत्त का आवश्यक अङ्ग है। कार्य किसी स्थान और समय में ही होंगे और उन्हे करने वाले मनुष्य किसी विशेष परिस्थिति में, जिससे उनकी वेष-भूषा आदि का रूप निर्धारित होगा। अतएव जब कोई लेखक अपने पात्रों से कार्य कराता है तो वह उन्हें उपयुक्त परिस्थिति में रखता है, उन्हें उपयुक्त घटना-स्थल में ले जाता है, और उन्हें उपयुक्त परिधान और रूप-आकार देता है। इन तमाम बातो का मुख्य संवेदना से उतना ही सम्बन्ध है जितना कि घटना और चरित्र का, क्योंकि ये घटना और चरित्र के भी मूल में हैं और उनकी सार्थकता के लिए एक बड़े अंश में उत्तरदायी हैं।

वृत्त में वातावरण या परिस्थिति

घटना और चरित्र की भाँति लेखक वातावरण का भी वर्णन प्रायः—अधिकतर—स्वयं ही करता है। वृत्त-काव्य में प्रत्येक तत्त्व का उपयोग मुख्य संवेदना की तीव्रता के लिए होने के कारण, यह वर्णन किसी घटना या स्थान के सामान्य वर्णन से एकान्त भिन्न होता है। जो लेख काश्मीर का ही परिचय कराने के लिए लिखा जाता है उसका वर्णन उस लेख के वर्णन से भिन्न ही होगा जिसमे

वातावरण के चित्रण में लेखक का उत्तरदायित्व

काश्मीर को केवल एक घटना-स्थल की भाँति समझा गया है। एक में काश्मीर का उत्कर्ष ही लेखक का लक्ष्य है, दूसरे में घटनाओं का। अतएव, वृत्त या कहानी में यह भी आवश्यक नहीं है कि वातावरण का चित्र सिलसिलेवार ही हो। स्मृति-विस्मृति ने मूल अनुभव से तोड़ कर जो इधर-उधर के तथ्य संकलित किए हैं उनका वातावरण परस्पर-संवादी कैसे होगा?

इससे लेखक को अपने वर्णन कार्य में यदि कुछ सहूलियत हो जाती है, तो उतनी ही उससे असुविधा भी होती है। उसे प्रत्येक तथ्य का नया और उपयुक्त वातावरण देने की आवश्यकता पड़ जाती है। कृती लेखक इस कठिनाई को दूर करने के लिए प्राय: वातावरण का आभासमात्र दे देते हैं और चित्र को पूरा होने के लिए पात्रों के कार्य और वार्तालाप की व्यञ्जना पर छोड़ देते हैं। उनको स्वयं बहुत कम, या कुछ नहीं, कहना पड़ता है और पाठक को भी वातावरण में साक्षात्कार का आनन्द आता है।

'उसने कहा था' में लेखक ने वातावरण के वर्णन की जिम्मेदारी कहीं अपने ऊपर नहीं ली है। फिर भी, हम नहीं कह सकते कि इस कहानी में वातावरण का कोई प्रभाव नहीं है, या वह प्रभाव काफी समर्थ नहीं है। इसके विपरीत 'शान्ति-निकेतन' में वातावरण के वर्णन की चेष्टा इतनी प्रबल हो गई है कि उसमें मुख्य संवेदना बहुत कुछ फीकी सी हो जाती है। इस प्रकार के वर्णनों के सम्बन्ध में प्रोफेसर वेन्डेल का उपदेश बड़ा

उपयोगी है कि लेखक को फोटोग्राफ़र का प्रतिद्वन्द्वी बनने की चेष्टा न करनी चाहिए। जिस कहानी में स्थान आदि के बड़े लम्बे और 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' वाले चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न रहता है, सौ में नव्वे पाठक उसे पढ़ना पसन्द नहीं करते।

वृत्त में लेखक का व्यक्तित्व

घटना, पात्र और वातावरण के अतिरिक्त कहानी में लेखक के व्यक्तित्व का भी बड़ा अंश रहता है। जिन विचारों और भावों की पुष्टि उसकी कृति में रहती है उन्हीं में उसका व्यक्तित्व भी रहता है। लेखक का व्यक्तित्व लेखक के संवेदना-कोण को जन्म देता है। युद्धस्थल के दृश्य को देख कर एक लेखक विजयी वीरों के पराक्रम से उत्साहित हो उठता है और दूसरा क्षत-विक्षत, पलायन-पर, खदेड़े जाते हुए विजितों की दयनीय दशा पर रो देता है।

व्यक्तित्व और उद्देश्य

इस व्यक्तित्व के कारण प्रायः बहुत से लेखक अपने वृत्तलेखों में किसी उद्देश्य का अनुसरण किया करते हैं। अधिकतर इस उद्देश्य की प्रवृत्ति मानवता के उपकार के लिए होती है। इसलिए उद्देश्यगर्भ कहानियों आदि में हम प्रायः किसी उच्च आदर्श या आदर्शों की स्थापना का प्रयास देखते हैं। कहीं देश प्रेम की पुकार है तो कहीं वीरता और सत्यनिष्ठा की, कहीं ग़रीबों की हाय हाय पर दया दिखलाई जाती है तो कहीं दुर्बल प्राणियों की दुर्बलता पर झुँझलाहट।

उद्देश्य रखने में बुराई नहीं है। परन्तु जहाँ उद्देश्य संवेदना के ही रूप में व्यक्त होता है वहाँ वह परम श्रेष्ठ है, और जहाँ उपदेश के रूप में वहाँ परम निकृष्ट। संवेदना और उद्देश्य अधिकांश में एक पदार्थ नहीं हैं। संवेदना विशेषतः भावुकता से सम्बन्ध रखती है और उद्देश्य विचार या तर्क से। जहाँ ये दोनों वस्तु समान भूमि पर मिलती हैं वहीं उनका उचित सामंजस्य हो सकता है।

उद्देश्य का उपयोग और दुरुपयोग

उद्देश्य के सम्बन्ध में एक बात और है। एक स्पष्ट उद्देश्य को अपने सामने रख कर लेखक का कभी कभी उसके प्रति आग्रह भी होने लगता है। और जब यह आग्रह अधिक बढ़ जाता है तो कुछ कट्टरपन भी आ ही जाता है और उसमें लेखक अपनी यथार्थ संवेदना को भूलने लगता है, जब तक कि संवेदना और उद्देश्य में यथेष्ठ तादात्म्य न हो। संवेदना का अदृश्य होना कहानी की हत्या होना है। संवेदना के स्थान में स्वयं लेखक पाठक के सामने आ जाता है। पाठक अनुभव के साक्षात्कार का आनन्द न पाकर केवल अस्थिचर्मविहीन एक धुँधली सी लेखक की प्रतिकृति देखता है।

अतएव, लेखक को यह ध्यान रखना चाहिये कि पाठक की संवेदना में बाधा न पड़े। पाठक की संवेदना को तीव्रातितीव्र बनाना ही उसका एक-मात्र उद्देश्य होना चाहिए। उसके

व्यक्तित्व के बलात् सामने आजाने से पाठक का हृदय अपनी अनुभूति से विचलित हो जाता है। लेखक के लिए अपने व्यक्तित्व को आगे लाना एक भयंकर प्रमाद है। उसके संवेदनात्मक अनुभवों की व्यञ्जना में उसके व्यक्तित्व का अंश स्वयं ही मौजूद रहता है, और इतना ही अंश, जिसे वह छिपा भी नहीं सकता, उसके व्यक्तित्व का परम सुन्दर रूप है। परन्तु उद्देश्य के सम्बन्ध में अपने को छिपाए रखना ही कलाकार का अति प्रधान कर्त्तव्य है, जिससे पाठक को अपनी अनुभवि के समय बार बार यह ध्यान न आता रहे कि कोई दूसरा हमको अपना अनुभव सुना रहा है। यदि लेखक ने अनुभव के अनन्तर स्मृति-विस्मृति का सम्यक् अभ्यास किया है और उसकी संवेदन-शक्ति प्रबल है तो ऐसा करना उसके लिए अधिक दुष्कर न होगा।

वृत्तकाव्य के साधारण तत्वों का इतना दिग्दर्शन हमारे लिए पर्याप्त है। नाटक, प्रबन्धकाव्य, चम्पू आदि, सब में इनका किसी न किसी मात्रा में रहना अनिवार्य होता है।

आधुनिक कहानी या Short Story

इन्हीं तत्वों के उपयोग-भेद से तथा विन्यास-प्रणाली की विभिन्नता से अलग अलग वृत्त-प्रकारों का उदय होता है। उपन्यास और कहानी भी दो विभिन्न प्रकार हैं। ऊपर के दिग्दर्शन में जहाँ कहीं अभी तक 'कहानी' शब्द का प्रयोग हुआ है वह वृत्त-काव्य

ा ही है, Short Story के अर्थ में नहीं। आगे इस का प्रयोग केवल 'शॉर्ट स्टोरी' के ही अर्थ में किया गा।

कहानी या शॉर्ट स्टोरी भी अनुभव-मूल स्मृति-विस्मृति के आधार को लेकर प्लॉट चरित्र आदि की कल्पना पर, संवेदना के केन्द्र में स्थित होती है। इसमें नाटक, चम्पू और प्रबन्धकाव्य से उसकी तुलना नहीं करनी है, क्योंकि इनके भेद को परम असंस्कृत व्यक्ति भी समझता है। परन्तु उपन्यास और कहानी को पहचानने में अवश्य कठिनता होती है। जनसाधारण समझते हैं कि जो गद्य-कथा छोटी-सामान्यतः दस पाँच से तीस चालीस पृष्ठ तक की—होती है वह कहानी कहलाती है और जो बड़ी होती है वह उपन्यास। इसका सब से बड़ा प्रमाण यह है कि हिन्दी की पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली अधिकांश कहानियाँ वास्तव में छोटे उपन्यास होती हैं परन्तु वे समझी जाती हैं कहानी ही। रूप और वर्णन-रीति में उपन्यास और कहानी में इतनी अधिक समानता है कि उनके पृथक् पृथक् दृष्टिकोण की ओर लोगों का ध्यान कम जाता है।

कहानी का आकार

इसमें सन्देह नहीं कि गद्यकथा का विवेचन करते हुए विद्वानों ने सर्वत्र कहानी की आकार-लघुता पर जोर दिया है। कोई कहते हैं कि कहानी इतनी लम्बी हो कि तीस मिनट के अन्दर आसानी से पढ़ी जा सके और कुछ का मत है कि उसकी लम्बाई तीन चार

सौ शब्दों से लेकर तीन-चार हज़ार शब्दों तक की होनी चाहिए। तमाम विद्वानों के एक मत से ऐसी व्यवस्था करने के कारण ही लोगों का विश्वास कहानी की लघुतामात्र पर स्थिर होगया। परन्तु जहाँ एक ओर पचीस-तीस पृष्ठों के उपन्यास लिखे जा सकते और लिखे गए हैं, वही दूसरी ओर मोपासाँ ने य्वेट (Yvete) जैसी सौ-सौ पृष्ठ की कथाएँ लिखी हैं जो कहानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। शरत् बाबू की सौ-सौ पृष्ठ की 'मझली दीदी,' 'बड़ी दीदी' आदि उपन्यास हैं। अतः कहानी के आकार की कोई ऐसी अन्तिम सीमा निर्धारित करना जिससे ऊपर लिखी गई रचनाएँ उपन्यास ही कहलाएँगी, उतना ही कठिन है जितना उपन्यास की किसी निम्न सीमा का निर्धारित करना, जिससे नीचे लिखी गई रचनाएँ कहानी ही कहलाएँ।

तथापि, इतनी बात अवश्य माननीय है कि आकार की दृष्टि से कहानी को उपन्यास की अपेक्षा बहुत अधिक नियंत्रित रहना पड़ता है। उपन्यास की गति बहुत उच्छृङ्खल हो सकती है। हज़ार-हज़ार दो-दो हज़ार पृष्ठों के उपन्यास तो संसार में हैं ही-यदि उपन्यास-क्षेत्र में कोई व्यासदेव पैदा हो जाएँ तो दस हज़ार पृष्ठ का उपन्यास बन जाना भी सम्भव है। पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' 'अरुणोदय' नाम का एक उपन्यास लिख ही रहे हैं जो, उनके अनुमान में, चार हज़ार पृष्ठ में समाप्त होगा। कहानी इतनी बड़ी अवश्य नहीं हो सकती। कितनी बड़ी हो सकती है यह कहना भी कठिन है। संसार के मौजूदा साहित्य को देखते

हुए अधिक सेअधिक यह कह कह सकते हैं कि अभी तक सौ पृष्ठ से बड़ी कहानी नहीं लिखी गई और इसलिए शायद डेढ़ दो सौ पृष्ठ की कहानी लिखना दुःसम्भव हो। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि अधिक लम्बी कहानी लिखना अति दुष्कर कार्य है। अवकाश के प्रलोभन में पड़ कर लेखक के लिए प्रायः परिस्थितियाँ-उप-परिस्थतियाँ, संवेदनाएँ-उप संवेदनाएँ या चरित्र का विकास आदि दिखाने की प्रवृत्ति का संशय उपस्थित हो जाता है और वह उपन्यास के मार्ग पर चलने लगता है। प्रेमचन्द ने 'दो सखियाँ' नाम की एक कहानी सौ-सवासौ पृष्ठों मे लिखी है, परन्तु वह कहानी न रह कर उपन्यास हो गई है। साधारणतः सात-आठ से लेकर बीस-पचीस पृष्ठ तक की ही कहानियाँ संसार के साहित्य में अधिक पाई जाती हैं।

कहानी के आकार के इस प्रारम्भिक प्रश्न का थोड़ा-बहुत निर्णय कर लेने पर अब हम उस के सिद्धान्तो का विचार कर सकते हैं। विस्तार नियमित होने के कारण कहानी का कार्यक्षेत्र अवश्य संकुचित हो जाएगा। इस संकोच को देखते हुए कहानी-कला के लगभग समस्त मीमांसकों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि कहानी में एक ही प्रधान तथ्य—एक ही संवेदना—का प्रकाश होना चाहिए। परन्तु, कहानी के प्रारम्भिक विकास में उसके विस्तार-संकोच के कारण यह सिद्धान्त निश्चित हुआ था या इस सिद्धान्त के कारण संकोच का नियम बना,

कहानी के मूल सिद्धान्त आकार पर निर्भर नहीं हैं

इसके जानने का कोई विशेष साधन नहीं है। कारण यह है कि उस आरम्भिक काल में छोटी कहानी और उपन्यास-बीज बड़ी कहानी का शास्त्रीय भेद न होने से उनके निर्धारक सिद्धान्तों तथा नियमों की भी कल्पना नहीं हुई थी। सिद्धान्तों की खोज किसी एक प्रकार की वस्तु के प्रचार में आजाने के बाद ही हुआ करती है। तथापि जो बातें कालान्तर में नियम बन जाती हैं प्रारम्भ में उनके बीज या उनकी एक प्रकार की अलक्ष्य प्रेरणा का उदय तत्सम्बन्धी जनता के मस्तिष्क में अवश्य हो जाता है। लेखकों के लिए स्थानावकाश की कमी उन दिनों में नहीं थी। जिस प्रकार आजकल के लेखक कहानी को थोड़े से ही स्थान में समाप्त कर देने के लिए बाध्य हैं उस प्रकार ईसप या हितोपदेश की कहानियों के लेखक नहीं थे। अतः केवल अनुमान से इतना कह सकते हैं कि शायद एकतथ्य वाली प्रेरणा के कारण ही उनकी कहानियाँ इतनी संक्षिप्त हैं। यदि संकोच की प्रेरणा ही पहली होती तो उनकी कहानियों में साथ ही साथ एकतथ्यता का इतना आग्रह न दिखाई देता और वे संक्षिप्त स्थान में भी विस्तृत विषय की कहानियाँ ही अधिक लिखते। परन्तु इसके विपरीत हम देखते हैं कि उन्हे जो कुछ कहना है—केवल एक बात—उसे झटपट, एक दो पृष्ठ में ही, समाप्त कर वे चलते बनते हैं। अपनी बात की बलवती प्रेरणा में वे लालित्य आदि कला के उपकरणों की भी चिन्ता नहीं करते। उनकी प्रत्येक कहानी के मूलतथ्य में उपदेश का आवश्यक प्रयास रहना हमारे अनुमान को और भी दृढ़ करता है।

तब, कहानी और उपन्यास में प्रथम सैद्धान्तिक भेद एक-तथ्यता का है। यह नहीं कि, कहानी में एक से अधिक तथ्यों की चर्चा ही न होगी; परन्तु अन्य सब तथ्य मूल तथ्य के लिए सेवा-भाव से प्रयुक्त होंगे और जो इस सेवा-कर्म के लिए ज़रा भी अनुपयुक्त होंगे उनका तिरस्कार किया जाएगा।

कहानी और उपन्यास का मूल भेद—एकतथ्यता

मूल अनुभव में स्मृति-विस्मृति की क्रिया-प्रतिक्रिया को देखते हुए, हम कह चुके हैं, कोई एक ऐसा प्रधान तथ्य अवश्य होगा जिसके लिए उस अनुभव की तमाम स्मृति का प्रधान आकर्षण होगा। और वह तथ्य वह होगा जिससे लेखक की संवेदना सब से अधिक जागरित हुई है। इससे हमको एक और सिद्धान्त प्राप्त होता है कि यह तथ्य परम संवेदनात्मक होना चाहिए। क्योंकि, वास्तव में, उस तथ्य की प्रधानता का अनुभव करना अपने मूल में उसकी संवेदना का ही अनुभव करना है। जितनी संवेदना उससे लेखक को हुई है, पाठक को भी उतनी ही संवेदना यदि न हुई तो पाठक के लिए लेखक की कहानी का प्रभाव नष्ट हो जाएगा। एक ही तथ्य की एक ही उत्कट संवेदना पैदा करना कहानी की जान है।

एक तथ्यता का आधार—एक संवेदना

इस दृष्टि से कहानी और उपन्यास में सब से पहला और सब से मुख्य भेद उत्पन्न होता है। उपन्यास में संवेदना नहीं,

वल्कि संवेदनाएँ रहती हैं। यह बात नहीं है कि प्रधान तथ्य की प्रधान संवेदना उपन्यास-लेखक में नहीं होती है। परन्तु उस प्रधान तथ्य की संवेदना तक पहुँचने में लेखक को और भी अनेक तीव्र संवेदनाएँ हो चुकी होती हैं, और उपन्यासकार उनसे भी इतना प्रभावित होता है कि पाठक के सामने उनको उपस्थित करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उपन्यास-कार की कृति मुख्य संवेदना का एक प्रकार का इतिहास-सा हो जाती है। और चूँकि इतिहास का कार्य अधिकतर व्याख्या करना है, व्याख्या संवेदना की उत्तेजना को नष्ट कर देती है। जब हम किसी बात का पूर्ण रहस्य जान लेते हैं तो निःसन्देह हमारे लिए उसका चमत्कार कम हो जाता है, या बिलकुल नहीं रहता। हमारे लिए उस रहस्य के ज्ञान का ही आकर्षण हो जाता है न कि रहस्यमय बात का।

उपन्यास की व्याख्या कहानी में संवेदना की तीव्रता को नष्ट कर देती है

एक उदाहरण लीजिए। आप थियेटर के स्टेज पर अँधेरे में एक अति आश्चर्यजनक दृश्य देखते हैं। तमाम हाल में अँधेरा है और केवल स्टेज के ऊपर धीमे से प्रकाश का एक बल्ब छिपा हुआ है। एक नर्तकी आकर नृत्य करने लगती है। उसके नृत्य की यह विशेषता है कि प्रत्येक नए आवर्त्तन में, या प्रत्येक नई भाव-परिस्थिति में, उसकी साड़ी का रंग भी बड़ी मनोहरता के साथ बदल जाता है। दर्शक तालियाँ पीट उठते हैं। परन्तु इस रहस्य

का पारिभाषिक ज्ञान रखने वाला व्यक्ति आपकी जिज्ञासा का केवल यह उत्तर देता है कि—'यह तो बड़ा आसान है। पात्रों के प्रवेशद्वार के पीछे एक मैजिक लन्टर्न रक्खी हुई है जिसके साथ फोकस करने का भी प्रबन्ध है। और भिन्न भिन्न रँगों तथा रंगच्छयाओं के स्लाइडूस या प्लेटों द्वारा आपको साड़ी के नए नए रँग दिखाई देते हैं।' इतना जानकर आपके लिए केवल इस रहस्य का चमत्कार रह गया और साड़ी के नए रङ्ग-परिवर्त्तनों से आप उतना प्रभावित नहीं होते। इसी प्रकार जब शोबदेबाज़ आपको ताश का एक पत्ता दिखा कर क्षण भर में उसके स्थान में दूसरा पत्ता दिखा देता है तो, आप उससे चाहे कितने ही चमत्कृत हों, जानकार केवल यही कहेगा कि इसमें क्या रक्खा है।

हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि कहानी लिखना एक शोबदेबाज़ी है। शोबदेबाज़ी में आश्चर्यजनक घटनाओं को आप केवल कुतूहल से देखते हैं और उनमें अलौकिकता का आरोप करके आप संतुष्ट हो जाते हैं। कहानी में आप प्रायः शोबदेबाज़ी का सा प्रभाव तो चाहते है लेकिन लेखक को अमानुषिक या अप्राकृतिक शक्तियाँ नहीं देना चाहते। ऊपर के दो उदाहरणों से सिद्ध होता है कि व्याख्या संवेदना की तीव्रता को नष्ट कर देती हैं। कहानी में एक ही तो संवेदना है। आप व्याख्या द्वारा उसे नष्ट भी नहीं करेंगे। व्याख्या और अलौकिकता का समाहार तब कैसे होगा ?

कहानी में व्याख्या नहीं की जाती परन्तु पाठक के लिए व्याख्या की किञ्चित् सामग्री रहती है। लेखक व्याख्या नहीं करता परन्तु कहानी के अन्त में पाठक को जब वह अपनी संवेदना दे देता है तो पाठक अपनी कल्पना के सहारे कहानी के शरीर में ही उसका समाधान भी पा लेता है। इसका परिणाम यह होता है कि संवेदना की तीव्रता भी बनी रहती है और उसकी स्वाभाविक उपपत्ति (rationality) भी। शोवदेबाज़ी जीवन की वस्तु नहीं है। कहानी में जीवन-सम्बन्धी संवेदना रहती है, और जीवन-सम्बन्धी बातें अलौकिकता की रीति पर ग्रहण नहीं की जा सकतीं।

कहानी और उपन्यास की संवेदनाओं के विभिन्न रूप

सारांश में हम कह सकते हैं कि कहानी की संवेदना का प्रभाव पाठक के लिए कुछ-कुछ आकस्मिक सा और इसलिए किञ्चित् असामान्य सा (extraordinary) होता है, यद्यपि उसका लौकिक समाधान कहानी में वर्तमान रहता है। कहानी की संवेदना के असामान्य प्रभाव में अब हम कहानी और उपन्यास की विन्यास-प्रकृति के भेद को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। यह हम देख ही चुके हैं कि उपन्यास में उसकी व्याख्या-प्रणाली के कारण संवेदना की आकस्मिकता और असामान्यता नहीं रहती। उपन्यास में प्रधान संवेदना अन्य अंशतः प्रधान संवेदनाओं के परिणाम के रूप में दिखाई जाती है।

ये अंशतः प्रधान संवेदनाएँ एक ओर तो पाठक को धीरे-धीरे अन्तिम तथ्य के लिए तैयार करती चलती हैं और दूसरी ओर स्वयं उसका इतना चित्ताक्षेप करती रहती हैं कि पाठक उनकी उत्तेजना में जकड़ा जाकर तत्क्षण किसी अन्य संवेदना की चिन्ता नहीं कर पाता। एक सामान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तक के अनुसार मनुष्य एक विशेष मानसिक पद्धति का अनुसरण करते रहने पर उसका थोड़ा-थोड़ा अभ्यस्त हो चलता है। अनेक संवेदनाओं की परम्परा में सञ्चरण करते हुए, उपन्यास-पाठक भी निश्चिन, यद्यपि अज्ञात, रूप से उनका अभ्यस्त होता चलता है और नई संवेदनाओं का प्रभाव उसके लिए उतना तीव्र नहीं रहता जितना कि उनको पहली बार प्राप्त करने पर होता। चन्द्रकान्ता उपन्यास पढ़ते समय उसकी असाधारण घटनाएँ शुरू शुरू में हमको जितना उत्तेजित करेंगी, बाद में उनका स्वभाव-परिचय हो जाने पर उतना नही करेंगी। पर, इससे यह न समझना चाहिए कि अनुगामी संवेदनाओं की शिथिलता के कारण उपन्यास का महत्त्व ही कुछ नहीं रहता। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो पता लगेगा कि कहानी की संवेदना एक प्रकार की है और उपन्यास की दूसरे प्रकार की। दोनों का अपने-अपने ढङ्ग का महत्व है। उपन्यास की संवेदनाओं का उद्देश्य पृथक्-पृथक् प्रभावित करना नहीं है, बल्कि वह परिस्थिति या पात्रों के एक वातावरण की संवेदना उपस्थित करता है और समस्त

उपन्यास की संवेदना इन तमाम संवेदनाओं की समष्टि होती है। कहानी की संवेदना सब से पृथक् रहती है और इसीलिए उसे तीव्रतम होने की आवश्यकता है।

'उसने कहा था' में हम इसकी परीक्षा करेंगे। 'उसने कहा था' में संवेदना-भूत यथार्थ कहानी क्या है? यदि 'उसने कहा था'

'उसने कहा था' कहानी

लहनासिंह के दोनों साथियों की रक्षा के उपरान्त उसकी मृत्यु में ही सहसा समाप्त होजाती और लहनासिंह का अन्तकाल का प्रमाद न दिया होता तो क्या इस कहानी में कोई विशेषता रहती? नहीं; क्योंकि किसी तीव्र संवेदना के अभाव में 'उसने कहा था' एक सामान्य घटना का उल्लेखमात्र रह जाती, जैसी घटनाएँ कि हम प्रायः जीवन में उनसे प्रभावित हुए विना देखते रहते हैं। लड़ाई में जब आदमी जाते हैं तो उनमें बहुत से मरते ही हैं और प्रायः लोग अपने परम प्रिय जनों के लिए कुछ स्वार्थत्याग भी कर देते हैं, इसे क्या हम नहीं जानते? अभी यदि हम आपसे कहें कि अमुक व्यक्ति ने अपने मित्र के लिए जान दे दी तो आप पर उसके त्याग का नैतिक प्रभाव तो अवश्य पड़ेगा, पर हमारी सूचना में कहानी का आनन्द आप को नहीं आएगा—उस तीव्र संवेदना की अनुभूति नहीं होगी जो कहानी के लिए परम आवश्यक है। 'उसने कहा था' में लेखक ने अन्त तक आपको लहनासिंह का परिचय

भी नहीं दिया है। इसलिए अभी तक कहानी को आप एक निरपेक्ष व्यक्ति की भाँति पढ़ते हैं। परन्तु अन्त में, लहनासिंह के प्रलाप में, आपको उसके साथ अपने पूर्व परिचय की याद आ जाती है, और तब आपके ऊपर संवेदना का प्रथम आघात होता है। लेकिन चोट अभी पूरी नहीं बैठी है। लहनासिंह ने दो प्रिय व्यक्तियों के लिए जान दी है सही, परन्तु उन दोनों व्यक्तियों की रक्षा से आपका क्या सरोकार?–बोधा और उसके बाप को आप जानते ही नहीं। तब, आह!–याद आया। लहनासिंह की कभी एक लड़की से मुलाक़ात भी हुई थी और उस मुलाक़ात में कुछ भावुकता आगई थी–बोधा और उसका बाप उसी लड़की के पुत्र और पति हैं—और, फिर—फिर—अन्तिम आघात–'उसने कहा था।' ये तीन या दो शब्द 'उसने कहा था' ही एकान्त कहानी है। लेखक कहीं व्याख्या नहीं करता और स्मृति के उत्तरोत्तर तीन संस्कारों से संवेदना को चरमता पर पहुँचाकर उन्हीं के द्वारा पाठक की कल्पना को व्याख्या करने के लिए छोड़ देता है।

अब इसी कहानी को दूसरे पहलू से देखिए।

अमृतसर के बाज़ार में, मोदी की दूकान पर एक बालक और एक बालिका की भेंट हो जाती है। बालक का नाम लहनासिंह है; बालिका का भी कुछ होगा। बालक ने बालिका को एक गाड़ी के नीचे पड़जाने से बचाया है। इसी घटना के कारण, दोनों जब कभी एक दूसरे से मिलते हैं तो उनमें कुछ

'उसने कहा था'
उपन्यास

बातचीत हो जाती है जिसमें बालक की ओर से कभी-कभी छेड़खानी भी रहती है वह पूछता है, 'तेरी कुड़माई होगई' और वह कह देती है 'धत्' । एक रोज़ लड़के को उत्तर मिल जाता है कि होगई,और वह, न मालूम क्यों,सुस्त हो जाता है । उपन्यास आरम्भ होगया है ।

इसके बाद अनेक वर्ष बीत गए । बालक बालिका की तब से फिर भेंट नहीं हुई । दोनों अमृतसर में परदेशी थे । वह उसे धीरे धीरे भूल भी गया । इसी बीच में लहनासिंह की गार्हस्थ परि-स्थिति में बहुत हेर-फेर हो जाते हैं, जिन सबका पूरा-पूरा परिचय आपको दिया जाता है । फल-स्वरूप लहनासिंह फ़ौज में भर्ती होजाता है ।

रिसाले में अपने साथियों से उसकी जान पहचान होती है—कुछ से घनिष्टता भी । बोधासिंह और उसके बाप से—लेखक की इच्छानुसार, कतिपय परिस्थितियों के कारण अथवा यों ही-मेल अधिक बढ़ जाता है । तब, महायुद्ध के काल में, एक बार इन तीनों को छुट्टी के अनन्तर रिसाले के साथ 'लाम' पर पहुँचने की आज्ञा मिलती है । बोधा का घर लहना के मार्ग में पड़ता है और लहना पिता-पुत्र को साथ लेने के लिए उनके यहाँ उतर पड़ता है । उपन्यास अपनी स्थिर गति से चल रहा है ।

बोधा की मा की स्मृति धीरे-धीरे जागती है । वह लहना को पहचान लेती है । पर,लहना उसे नहीं पहचानता । वह उसे याद

दिलाती है,—'तेरी कुड़माई होगई'–'धत्'–'हाँ, होगई।' विचित्र भावों और भाव संघातों से लदालद, दोनों के—विशेषतः लहना के-अन्तर्द्वन्द्व का एक अपूर्व दृश्य उपस्थित होता है । अन्त में वह आँचल पसार कर भिक्षा माँगती है—'जिस तरह एक बार तुमने इक्के के नीचे से मुझे बचाया था उसी प्रकार युद्ध में इन दोनों की रक्षा करना'। अगले रोज़ तीनों युद्ध के लिए रवाना होजाते हैं। क्या रात में लहनासिंह को नींद आई ?

अब उपन्यास में बड़ी द्रुत गति आगई है। लहनासिंह की जीवन-धारा एक अदृष्टपूर्व दिशा में बह चली है। वह अब शायद थोड़ा था बहुत चिन्ताशील सा रहता है। परन्तु युद्ध में उसका सिंह-पराक्रम होजाता है। सूक्ष्म चरित्र-विकास और घोर अन्तर्द्वन्द्व की असंख्य अवस्थाओं में लेखक उसके द्वारा पिता-पुत्र की अनेक संकटों से रक्षा कराता है। और,प्रत्येक वार लहनासिंह सोच लेता है—'उसने कहा था'। प्रत्येक नए धावे के लिए आज्ञा मिलने पर वह सोचता है—'उसने कहा था'। दिनों के परिश्रम के बाद यदि कभी ज़रा सोने को अवकाश मिलता है तो उसे याद आजाती है—'उसने कहा था'। कभी खाई में छिपा छिपा यदि दो चार मिनट को ऊँघने लगता है तो देखता है—वह कह रही है। बोधासिंह की बीमारी में तो उसे उसकी आज्ञा का क्षण भर भी विस्मरण नहीं होता । और जब आखिरी वार दोनों की रक्षा करने पर वह मरणासन्न हो जाता है तो प्रयाण से

पहले उसे अमृतसर की घटना से आरम्भ करके पूरे पचीस वर्षों की समस्त बातों की एक एक करके याद आती है, और सब बातों की याद—'उसने कहा था'। वह परम शान्ति से मरता है। तीन सौ पृष्ठों का उपन्यास समाप्त हो गया।

उपर्युक्त उदाहरणों का निष्कर्ष

'उसने कहा था' की इस द्विरूप कल्पना से उपन्यास और कहानी के अलग अलग दृष्टिकोण और विन्यास-रीति का प्रश्न बहुत कुछ हल हो जाएगा। कहानी की जो संवेदना है वह उपन्यास में एक सुनिश्चित और सुव्यक्त विकसित परिस्थिति की परमोत्तर अवस्थामात्र है। इसलिए कहानी की एकान्त हृदयङ्गमता जिस परम संवेदनापूर्ण एकतथ्य के ऊपर निर्भर है, उपन्यास में वह उस ही पर निर्भर नहीं है। इसके प्रतिकूल, उपन्यास की हृदयङ्गमता उस परमोत्तर अवस्था की पूर्वगामी-परिस्थितियों के युक्तिसंगत सिलसिले में है, परमावस्था जिनका एक चरम प्रमाण-भूत पुष्टीकरणमात्र है। यही बात दूसरे शब्दों में यों कही जा सकती है कि उपन्यास की 'परमोत्तर अवस्था' पूर्ववर्ती विकास के रूप में व्याख्या की कामना रखती है, जिसके बिना उसका कोई आकर्षण नहीं रहता। इस प्रकार, यदि निष्कर्षरूप में यह मान लिया जाए कि कहानी का स्वतंत्र संवेदना-तथ्य जब उपन्यास में पूर्व व्याख्या का प्रमाण या उदाहरण हो जाता है, जो उस व्याख्या से अलग नहीं किया जा सकता, तो हमें यह जानने

में देर न लगनी चाहिए कि कहानी और उपन्यास के ये दोनों तत्व एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। यहाँ पर, जो बात पहले कही जा चुकी है उसे एक बार फिर दुहरा देना अच्छा होगा। उपन्यास में व्याख्या और चरम तथ्य, समाहार-रूप से आपस में मिल कर घटनाओं या चरित्र का एक आद्यन्त सरूप वातावरण उपस्थित करते हैं जिसमें पृथक् पृथक् संवेदनाएँ मिलकर पाठक के ऊपर झरने या फव्वारे का सा एक सामूहिक प्रभाव डालती रहती हैं। कहानी में सामूहिक प्रभाव अनावश्यक ही नहीं बल्कि,उसकी संवेदना की तीव्रता का बाधक होने के कारण, दूषित भी है। इसमें नल की एक सुकुमार धारा सीधी आपके मस्तिष्क के ऊपर गिरती है जिसकी केन्द्रीभूत शीतलता से अन्य अंगों की संवेदनाएँ अभिभूत होकर स्वयं उसी में अन्तर्हित हो जाती हैं।

यहाँ तक कहानी के रूप और उद्देश्य की बात हुई। रूप और उद्देश्य में उपन्यास तथा अन्य वृत्तप्रकारों से भिन्न होने के कारण क़हानी का मार्ग भी उनसे भिन्न ही होगा।

कहानी की मार्ग-प्रणाली

हम जानते हैं कि कहानी भी अपने मूल में एक ढँग का वृत्त ही है; अतः उसकी रचना भी प्लॉट, पात्र और वातावरण पर ही निर्भर रहती है। परन्तु साध्य संवेदना के साधनों का प्रयोग जिस प्रकार उपन्यास आदि में किया जाता है, कहानी में उस प्रकार किया जाना सम्भव नहीं है।

कहानी का संक्षिप्त आकार और उसका उद्देश्य ही उसके मार्ग का भी निर्णय करते हैं। आजकल चरित्र-चित्रण और प्लॉट उपन्यास के प्रधान विषय होते हैं। चरित्र-विकास चरित्र-चित्रण की मुख्य शर्त है। इसी प्रकार घटनावली का विकास प्लॉट की। इन दोनों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वातावरण की भी एक स्वाधीन सत्ता होती है। उपन्यासों में कभी-कभी घटनास्थलों और पात्रों की आकृति, वेश-भूषा आदि के ऐसे सविस्तर वर्णन रहते हैं कि दृष्टि के सामने उनका एक चित्र सा उपस्थित हो जाता है। कहीं-कहीं तो वातावरण का यह चित्रण इतना बढ़ा हुआ होता है कि कुछ लेखकों के उपन्यासों के प्रान्तीय वर्ग तक दृष्टिगोचर होने लगते हैं,—उदाहरण के लिए टॉमस हार्डी के वेसेक्स नावेल्स (Wessex novels) या वाल्टर स्कॉट के वेवर्ली नावेल्स (Waverly novels)।

वातावरण का नियम

कहानी में सामान्यतः उसकी लघुता के, और विशेषतः उसके उद्देश्य के, कारण वातावरण कहानी की परमसूक्ष्म आधारभूत साधारण आवश्यकताओं के अतिरिक्त, किसी प्रकार भी स्वतन्त्र रूप धारण नहीं कर सकता। मुख्य संवेदना की तीव्रतमता के एकान्त स्पष्टी-करण में वातावरण या अन्य कोई तत्त्व अपने स्पष्ट प्रभाव की अपेक्षा कैसे कर सकता है? 'शान्तिनिकेतन' में कहानी कितनी है? वातावरण

की जगमगाहट के सामने वह कितनी ओछी-सी मालूम होती है ? जैसे किसी सजी-सजाई दाई या उपमाता के कपड़ों में छिपे हुए शिशु की कोई छोटी सी प्रतिमा हो । उपन्यास में जो प्लॉट, चरित्र और वातावरण का सामूहिक प्रभाव होता है कहानी में उसके न होने से कहानी के वातावरण को केवल उतने कम से कम स्थान का अधिकार है जितना पात्रों और घटनाओं को आश्रय देने के लिए पर्याप्त है। 'उसने कहा था' के लेखक ने इस बात को जिस पूर्णता और सफलता के साथ चरितार्थ किया है उसे हम देख चुके हैं।

प्लॉट का नियम

प्लॉट के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है; परन्तु यहाँ थोड़ी सी गुँजाइश भी रहती है। क्योंकि बहुत-सी कहानियाँ ऐसी होती हैं जिनका तोड़ घटनाओं के ही किसी विचित्र या आकस्मिक प्रदर्शन में होता है। जासूसी, साहसिक विषय की (adventurous) या 'अद्भुत' (romantic), और कुछ अंश में ऐतिहासिक, कहानियाँ इस श्रेणी में आती हैं। इनमें प्लॉट के लिए ऐसा कठिन बन्धन नहीं रक्खा जा सकता जैसा कि वातावरण के लिए ऊपर बतलाया है। साथ ही, इस प्रकार की कहानियों में घटनाओं के उत्कर्ष के लिए वातावरण को भी कुछ अधिक अवकाश मिल सकता है, और मिलता है।

परन्तु इस पुस्तक में हम जिन सिद्धान्तों की चर्चा कर रहे हैं

वे उन कहानियों से सम्बन्ध रखते हैं जो कलात्मकता की दृष्टि से सर्वाङ्गपूर्ण हैं। कलात्मक वस्तु की सबसे बड़ी मौलिक पहचान यह है कि वह चिरस्थायी होगी और पाठकों के हृदयों पर सदा सबसे अधिक प्रभाव करती रहेगी। यह बात आवश्यक है कि इस प्रकार की रचनाएँ लोकप्रियता में बहुत-सी दूसरी रचनाओं से होड़ नहीं कर सकतीं। सर आर्थर किलर काउच ने अपनी किसी पुस्तक में मैरी कॉरेली के एक पत्र का उल्लेख किया है जिसमें मैरी कॉरेली ने लोकप्रियता को ही किसी पुस्तक की सफलता की कसौटी बताया है। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। कलात्मक रचनाओं के अधिक लोकप्रिय न हो सकने का एक कारण यह है कि सब पाठक कलाविज्ञ नहीं होते और उनमें परिचित और अपरिचित सत्ताओं की भीतरी तह तक पहुँचने और उसके अन्वेषण की सामर्थ्य नहीं होती। समुदाय की रुचि प्रायः स्थूल अवस्थाओं और पदार्थों पर ही अटक जाती है। अतः हम देखते हैं कि अपने समय में अश्लील रचनाएँ प्रायः जितनी अधिक लोकप्रिय हो जाती हैं उतनी दूसरी नहीं; यद्यपि ये रचनाएँ बहुत समय तक ठहरतीं नहीं। कुछ ऐसी ही बात, परिमित मात्रा में, घटनाओं की उत्तेजना से भरी कहानियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वे लोकप्रिय अधिक होती हैं, जैसा कि किसी भी साहित्य की सामयिक पत्रिकाओं को उलटने से पता लग सकता है; पर उनका प्रभाव चिरस्थायी नहीं होता।

घटना—प्राधान्य और कहानी-कला

हम यह नहीं कहते कि घटनाबहुल या घटनाप्रधान कहानियों में कला का सर्वथा अभाव होता है। उनमें भी कारीगरी की ज़रूरत है—केवल इसीलिए कि कुछ लोग दूसरों से अच्छी कहानियाँ लिख लेते हैं। किन्तु जो कहानियाँ चिरकाल तक जीती हैं उनमें भौतिक घटनाओं के स्थान में अन्तर्जगत् की घटनाओं की ही सवेदना रहती है। ऐसी कहानियाँ जिस प्रकार वातावरण के प्राधान्य को स्वीकार नहीं करतीं उसी प्रकार घटनाओं और चरित्र-चित्रण के प्राधान्य को भी नहीं। बहुत सी श्रेष्ठ कहानियाँ संसार के साहित्य में मौजूद हैं जिनमें किसी विशिष्ट प्लॉट का एक प्रकार से अनस्तित्व बतलाया जाता है। बात यह है कि भौतिक जगत् की उत्तेजना और अध्यात्मिक या अन्तर्जगत् के गहन सत्यों की सवेदना का एक साथ अनुभव करना-कराना शायद दुःसम्भव है। इसीलिए, योगनिष्ठ या ध्यानरत लोग प्राय' जन संकुल सृष्टि से अलग जाकर बैठा करते हैं। यथार्थ कला की अनुभूति भी योग, या मम्मटाचार्य के शब्दों में 'ब्रह्मानन्द संदोह,' से कम नहीं है। भौतिक परिस्थियों की उत्तेजना अभ्यन्तर के सूक्ष्म अनुभवों को असम्भव बना देती है। अतएव, जो लेखक पाठक के लिए नितान्त बाहरी उत्तेजना की सामग्री उपस्थित कर देता है वह उसके अधिक गहरे अनुभवों के लिए स्वयं ही कोई अवसर नहीं रखता। उपन्यास में सामूहिक प्रभाव की अपेक्षा से यह बात निभ जाती है।

कहानी की सवेदना और घटना-प्राधान्य

इसी भाँति चरित्र-चित्रण भी कहानी की वस्तु नहीं है। उपन्यास पूरे और सर्वाङ्गीण जीवन की व्याख्या है। उसमें असंख्य प्रकार की परिस्थितियों और तज्जन्य घटनावली तथा चरित्र-भेदों और चरित्र-समष्टि का समावेश रहता है। कहानी उपन्यास नहीं होती—रूप में भी और उद्देश्य में भी अतः उसमें चरित्र-भेद और चरित्र-समष्टि का प्रश्न ही नहीं उठता और इसी कारण उसमें चरित्र-विकास निरर्थक, दूषित और असम्भव है। 'चरित्र विकास' और 'चरित्र चित्रण' शब्द यदि एक दूसरे के पर्याय नहीं तो बहुत अंश में परस्पर-समान अवश्य हैं। जिस वस्तु का चित्रण होता है उसमें लघुता, दीर्घता आदि की कल्पना रहती है। प्रायः लोगों को एक बिन्दु का चित्र खींचते नहीं सुना। परन्तु उचित स्थान पर बिन्दु रख देने से वृत्त (circle) की कल्पना होजाती है। कहानी की आकस्मिक या असाधारण परिस्थिति में एक चरित्र-तथ्य की तीव्रतम संवेदना भी बिन्दु से भिन्न नहीं है जिसका चित्रण नहीं किया जासकता। उचित स्थान पर प्राप्त होने से उसके द्वारा पात्र के साधारण चरित्र के वृत्त (circle) की कल्पना स्वयं ही हो जाएगी। 'उसने कहा था' के अध्ययन से, जो हमारे विचार में हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कहानी है और संसार की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में रक्खी जाने योग्य है, यह बात सिद्ध की जा सकती है। कहानी में एक विशिष्ट प्रकार के चरित्र की पूर्व-

चरित्र-चित्रण का नियम

कल्पना स्वीकार करके हम उपयुक्त परिस्थिति में उसके अनुरूप किसी परम सवेदी मनस्तत्व की गवेषणा करते हैं।

कहानी में व्यञ्जना

कहा जाता है कि कहानी का लिखना उपन्यास लिखने से कहीं अधिक कठिन है। यह पूर्णतया सत्य है। वास्तव में यहाँ उसी कहानी से अभिप्राय है जो घटनाओं की उत्तेजना या चरित्र-विकास के इतिहास पर निर्भर नहीं करती। इसके साथ ही यह भी परम सत्य है कि ऐसी कहानी को समझना या उसकी सुन्दरता का अनुभव करना भी आसान नहीं है। कहानी का कलेवर प्लॉट, चरित्र आदि की निर्भरता त्याग कर भी उनसे विहीन तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि उनकी भित्ति पर ही तीव्र संवेदना का अस्तित्व है। अतएव, यह आवश्यक है कि यह भित्ति अलक्ष्य रूप से कहानी में विद्यमान रहे। उस अलक्ष्य को लक्ष्य कराने के लिए लेखक को थोड़े-से-थोड़े स्थान में अधिक से अधिक व्यञ्जनात्मकता उत्पन्न करने की आवश्यकता पड़ती है और पाठक को उस व्यञ्जना को ग्रहण करने की। अतएव, कहानी जितनी ही अधिक व्यञ्जनात्मक होगी वह उतनी ही श्रेष्ठ समझी जाएगी और ऐसी कहानी से वही पाठक भी आनन्दित होंगे जिनकी कल्पनाशक्ति अच्छी है। पाश्चात्य लेखकों का ध्यान कल्पनात्मक कहानी की परम व्यञ्जनाशक्ति की ओर विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुआ है, परन्तु भारतीय शास्त्र ने काव्यमात्र में ध्वनि या

व्यञ्जना की एकान्त महत्ता को स्वीकार किया है। कहानी भी एक प्रकार की कविता ही है।

व्यञ्जना की आवश्यकता—प्लॉट और चरित्र का सापेक्ष सम्बन्ध

ललित साहित्य में व्यञ्जनाशक्ति की आवश्यकता की प्रतीति, एक अंश में, वृत्त के भीतर प्लॉट और चरित्र के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण भी होती है। प्लॉट घटनाओं की सुव्यवस्थित समष्टि है और घटनाएँ कार्य-मूलक होती हैं। जीवन में आकस्मिक या दैवी नियोगों को छोड़ कर, समस्त घटनाएँ प्रायः मनुष्य के कार्यकलाप का ही परिणाम रहती हैं। अतएव, ऐसी घटनाओं के अस्तित्व में मनुष्य के भाव, विचार और संकल्पों का उत्तरदायित्व है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि यथार्थ जीवन में पहले व्यक्ति या व्यक्तियों के भाव, विचार आदि का अस्तित्व होता है और तदुपरान्त उनके परिणामस्वरूप कार्य या मानवी घटनाओं का। अतएव, वृत्त-साहित्य की प्रारम्भिक प्रेरणा में व्यक्ति के कार्य व्यक्ति का स्थूल रूप बन जाते हैं और तब हम वृत्त में जीवन को इसी रूप से चित्रित करने तथा वृत्त के समस्त प्रभाव को मानवी क्रिया-कलाप के चारों ओर केन्द्रित करने के प्रयास को देखते हैं। ऊपर जिन प्रकारों की घटनामूल या घटनाप्रधान कहानियों का ज़िक्र किया गया है वे इसी प्रारम्भिक प्रेरणा का परिणाम होती हैं।

परन्तु कुछ, या अधिक, आगे बढ़ कर साहित्य उन भीतरी

उद्देश्यों और रहस्यों की अन्वेषणा करने लगता है जो कार्यों के प्रेरक हैं। मनुष्य मनुष्य-जीवन-सम्बन्धी कहानियाँ मनोरञ्जन के साथ क्यों पढ़ता और सुनता है? उन कहानियों के पात्रों के साथ उसकी सहानुभूति होने लगती है। क्यों होने लगती है? क्योंकि उनमें उसे एक प्रकार से अपने ही जीवन की छाया दिखाई देती है। घटनाएँ सत्य न सही, पर घटनाओं के कारणीभूत रहस्य उसके अपने रहस्य हैं। वह जानता है कि शरीर के किसी अङ्ग में भयानक चोट लग जाने से कैसी पीड़ा और हृदय को कितनी वेदना होती है। जब साहित्य इस तत्त्व की खोज कर लेता है तो वह जनता को उन्हीं कारणीभूत रहस्यो से प्रभावित कर सत्य का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करता है। यहीं से चरित्र-चित्रण का उदय होता है और इस उदय के साथ ही यथार्थ जीवन का घटना चरित्र-सम्बन्ध साहित्य में विपरीत स्थिति को प्राप्त हो जाता है।

जीवन में, जैसा कहा गया है, भाव, विचार, या समष्टिरूप में चरित्र, कार्य के प्रेरक और साधक होते हैं, साहित्य में कार्य चरित्र का प्रेरक और साधक होता है—उसमें घटनाओं और कार्यों का चित्रण इसीलिए किया जाता है कि उससे चरित्र का स्पष्टीकरण हो। साहित्य में कार्य, मानसिक व्यापारों का उद्देश्य न होने पर, उसी भाँति निरर्थक है जिस भाँति जीवन में कार्य-रूप परिणाम न होने पर मानसिक व्यापार निरर्थक हैं। दूसरे शब्दों

में, साहित्य में कार्य या घटना कारण, और चरित्र परिणाम होता है; जीवन में चरित्र कारण और कार्य परिणाम होता है। इस प्रकार साहित्य में, कार्य या घटनाओं की क्रीड़ा में चरित्र की व्यञ्जना रहती है और कहानी में, घटना और चरित्रविकास की गति नितान्त नियन्त्रित होने के कारण, यह व्यञ्जना बहुत अधिक बढ़ जाती है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर किसी कहानी की पहचान के लिए उसमें कुछ सामान्य चिन्हों की खोज की जा सकती है, यद्यपि एक अच्छी कहानी की मुख्य पहचान उसकी संवेदना की विलक्षणता तथा उस संवेदना के उपकरण प्लॉट, चरित्र आदि की व्यञ्जनात्मक प्रयोग-विधि में ही है।

अवकाश की कमी और उद्देश्य की विशेषता के कारण कहानी में एक भी निरर्थक वाक्य या शब्द नहीं होना चाहिए।

सफल कहानी के कुछ लक्षण–निरर्थक प्रसंगों का निषेध

प्रायः कहानी का पहला पैराग्राफ या पहला वाक्य ही लेखक की सामर्थ्य को सूचित कर देता है। यदि पहला ही वाक्य हमको लेखक के उद्देश्य या उसके संवेदना-तथ्य के लिए कुछ-कुछ तैयार नहीं करता तो वह निरर्थक है। हम कहानी के नामकरण या Heading तक में इस तैयारी की कामना कर सकते हैं। शीर्षक किसी उद्देश्य का सूचक अवश्य हो, यद्यपि प्रच्छन्न रूप में

शीर्षक

हो। जो शीर्षक पाठक के मन को भ्रम में डालने वाले होते हैं वे दूषित समझे जाने चाहिएँ, क्योंकि वे पाठक की एक प्रकार की उत्सुकता को जागरित करके उसे दूसरी ओर ले जाते हैं और पाठक को उस कहानी की संवेदना से विरत करते हैं। प्रेमचन्द की एक कहानी के शीर्षक 'सत्याग्रह' से पाठक आशा करता है कि वह सन्' २१ के असहयोग आन्दोलन के किसी अति उत्कर्षसाधक तथ्य या सिद्धान्त का प्रकाश करेगी। परन्तु कहानी में उत्कर्ष-साधन नहीं है; जो है उसमें भी पाठक को भ्रम हो जाता है। कहानी पढ़ चुकने पर पाठक को नहीं मालूम होता कि लेखक का उद्देश्य सत्याग्रह-संग्राम की हँसी उडाने का था या नायक की। सन्देह की अवस्था में संवेदना भी कैसे हो सकती है, जिसके कारण यह कहानी कहानी नहीं रहती। और, यह दोष केवल अनुपयुक्त शीर्षक के कारण उत्पन्न होता है। यही कहानी यदि प्रहसन के ढङ्ग पर लिखी जाती तो दोष ढक सकता था।

कहानी में भूमिका-वाक्य

इससे कहानी में प्रारम्भिक भूमिकाओं का भी निराकरण हो जाता है। बल्कि, कुछ लेखक तो प्रभाव की तीव्रता और स्पष्टता के लिए अपनी कहानियों का किसी आकस्मिक घटना या वार्तालाप से आरम्भ करते हैं जिससे पाठक का ध्यान और उसकी उत्सुकता एकदम आकर्षित हो जाती है। परन्तु जो कहानियाँ कथोपकथन से आरम्भ की जाती हैं उनमें

भी इस बात की आवश्यकता है कि कथोपकथन बहुत लम्बा, निरर्थक या उद्वेगकर न हो। प्रायः दो चार पंक्तियों का वार्त्तालाप और उसके बाद परिस्थिति-परिचायक एक छोटा सा पैरा अच्छा होता है।

कथोपकथन की रीति और उसकी आवश्यकता

अन्य बातों की भाँति, कहानी में वार्त्तालाप या कथोपकथन को भी नियंत्रित रहना पड़ता है। जिस प्रकार आरम्भ में, उसी प्रकार अन्यत्र भी, उसमें कोई वाक्य निरर्थक न होना चाहिए। किसी पात्र के मुख से कहलाया गया एक भी वाक्य उस पात्र के उतने चरित्र और परिस्थिति का द्योतक होना चाहिए जितने का मुख्य संवेदना से सम्बन्ध है। साथ ही कथोपकथन का कहानी में यत्र-तत्र थोड़ा-बहुत होना भी आवश्यक है। लम्बे लम्बे पैराग्राफों को देख कर जब पाठक का मन अलकसाता है तो कथोपकथन कहानी के सिलसिले, और पाठक के हृदय, में स्फूर्ति का उत्पादन करता है। कथोपकथन कहानी को नेत्रों के सामने चमका देता है और प्लॉट की गति को अग्रसर करके तथा पात्र की अवस्था या चरित्र की सूचना देकर एक द्विविध उद्देश्य की पूर्ति करता है। कथोपकथन का प्रयोग करना ही कठिन काम है, और, इसलिए, जो कहानियाँ एकान्त कथोपकथन के ही रूप में लिखी जाती हैं उनकी रचना में बड़े कौशल की अपेक्षा होती है।

प्लॉट के किस स्थल से कहानी को आरम्भ किया जाय, यह भी लेखक की एक भारी समस्या है। इसके सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नहीं बनाए जा सकते और उसकी एकमात्र परीक्षा पाठक के ऊपर सम्पूर्ण कहानी का प्रभाव है। एक विज्ञ पाठक किसी कहानी को पढ़कर बता सकता है कि उसका आरम्भ उचित स्थल पर हुआ है या नहीं। विचारशील लेखक यदि अपनी कहानी से स्वयं प्रभावित होने का अभ्यास करे तो वह बहुत से अनुपयुक्त आरम्भों से मुक्त हो सकता है।

कहानी का आरम्भ-स्थल

इसके अतिरिक्त कहानी का अन्त भी सावधानी का विषय है। कहानी का अन्त होने से पहले ही जहाँ पाठक उसके परिणाम का अनुभव कर लेता है वहाँ कला लेश को भी नहीं होती। इसीलिए लोग प्रायः उन कहानियों से अधिक प्रभावित होते हैं जिनके परिणाम में आकस्मिकता का सा चमत्कार रहता है। परन्तु आकस्मिकता अस्वाभाविक न होनी चाहिए।

कहानी का अन्त

कहानी की गति शिथिल न हो। इसके लिए एक ओर जहाँ उन बातों का निषेध होना चाहिए जो रुकावट डालने वाली हों वहीं ऐसे क्रमिक प्रसंगों की भी आवश्यकता है जो सार्थक होते हुए कहानी के प्रभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाले हों। इसका

कहानी का प्रसार-क्रम

अभिप्राय यह है कि कहानी का एक एक पद सारभूमि (climax) की ओर अग्रसर होता हो। वास्तव में, जिस कहानी का सञ्चालन प्रत्येक क्रम पर सार की ओर अग्रसर नहीं होता उसकी रचना में दोष रहता है। कहानी का सार उसकी पुञ्जीभूत तीव्र संवेदना है, जिसमें उपन्यास की भाँति उतार नहीं दिखाया जाता। कहानी की गति उपन्यास की गति से अधिक तेज और कौतूहल-वर्धक होगी।

दोष दर्शन

मिस्टर रॉबर्ट डैविस नामक एक अमरीकन सम्पादक ने कहानी-लेखक के चार अति सामान्य दोषों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं:—

असम्बद्धता (जिसके भीतर क्रमहीनता, अस्वाभाविकता तथा परस्पर-भिन्न उल्लेखों और वर्णनों आदि का समावेश हो जाता है।);

प्लॉट की हीनता (अथवा दूषित या अप्रयोज्य प्लॉट;

अमौलिकता (जिसका उदय मुख्यतः लेखक की स्वकीय साक्षात् अनुभूति के न होने से होता है); और

दुरारम्भ (अर्थात्, कहानी को प्लॉट के किसी अनुपयुक्त स्थल से आरम्भ करना)।

इनके अतिरिक्त, लेखक के उद्देश्य और उपदेशकवृत्ति तथा भाषा, शैली आदि से भी सम्बन्ध रखने वाले अनेक दोष उत्पन्न

हो सकते हैं, क्योंकि, और सब बातों की भिन्नता में, कहानी कहने की शैली भी उपन्यास की शैली से भिन्न ही होगी। संवेदना के प्रभाव की परीक्षा करने पर ये सब दोष स्वयं प्रकट हो जाते हैं।

आधुनिक हिन्दी कहानी

हिन्दी कहानी का अभी उदयकाल है। इधर पिछले दस-पन्द्रह वर्ष में ही कहानी-रचना का युग आरम्भ हुआ है। परन्तु इतने ही थोड़े समय में उसने लोकप्रियता की दृष्टि से बड़ी उन्नति प्राप्त करली है। लेखकों और पाठकों, दोनों, पर इसकी मोहिनी का प्रभाव है। हिन्दी में जितने कहानी के लेखक और पाठक मिलेंगे उतने अन्य विषयों के नहीं प्रायः कोई भी व्यक्ति, जो कलम-दावात लेकर कुछ लिख सकता है और अपनी रचना को पत्र पत्रिकाओं में भेजने की कामना रखता है, कहानी अवश्य लिखेगा। बल्कि, यहाँ तक है कि साहित्य-सेवा के उन्मादी प्रारम्भकों में पहले-पहल कहानी के द्वार से ही साहित्य साम्राज्य में प्रवेश करना परम सुगम समझा जाता है। इसकी रचना इतनी सरल समझी जाती है कि भविष्य में होने वाले लेखकों की प्रथम रचना अधिकतर कहानी—(या फिर, पद्य-कविता)—ही होती है। कहानी लिखना सरल न हो, परन्तु

कहानी के जीवन और साहित्य की जागृति के लिए यह लक्षण कुछ बुरा नहीं है।

कुछ परम श्रेष्ठ कलाकारों को छोड़कर, प्रत्येक कला के प्रारंभिक विकास में, लोगों की चेतना प्रायः कष्टजिज्ञासा और बाह्य उपकरणों की सपरिश्रम साधना में दृष्टिगोचर हुआ करती है। हिन्दी कहानी का ऐसा ही समय है और इसमें उसी के अनुरूप लक्षणों का दिखाई देना स्वाभाविक है। जहाँ एक ओर कहानी-लेखन को बाएँ हाथ का खेल समझने वाले असंख्य लेखकता-लोलुपों की अविचारशीलता फैली हुई है, वहीं, जरा ऊँचे उठकर, कला की जिज्ञासा को जन्म देने वाले कतिपय लेखकों में उनके प्रयास की स्पष्ट कष्टसाधना और कुलबुलाहट को भी हम देख सकते हैं। वास्तव में, इसी जिज्ञासा-मूल चेष्टा और कुलबुलाहट से ही आगे चल कर स्वाभाविक और सरस कला का प्रादुर्भाव होता है। जब जिज्ञासा कष्टसाध्यता और कृत्रिमता से निकल कर अभ्यन्तर की वस्तु हो जाती है तो उसका परिणाम कलाकार के स्वतःप्रेरित उद्‌गार के रूप में अभिव्यक्त होता है। हिन्दी के कहानी-साहित्य में उद्‌गारभूत परमोच्च कला की आशा करना अभी कल्पनामात्र है। उस समय को आते हुए अभी सम्भवतः पचास वर्ष लगेंगे। परन्तु प्रयास और चेतना में कला का प्रवेश अवश्य आरम्भ हो गया है।

यहाँ हम हिन्दी के सम्पूर्ण कहानी-सहित्य की चर्चा कर रहे

हैं—किन्हीं विशेष व्यक्तिगत कहानियों से हमारा तात्पर्य नहीं है। इनी-गिनी कहानियों में हमको कहीं कहीं सात्विक कला मिल भी जाती है। 'उसने कहा था' का उदाहरण दिया जा चुका है। पाठक को पढ़ते ही मालूम हो जाता है कि उसमें कष्ट-साधना और कर्तृ-त्व की चेतना का नाम नहीं है। एक और कहानी श्रीयुत प्रेमचन्द की 'पञ्च-परमेश्वर' है, जिसमें कला का गौरव पूर्ण रूप से विद्यमान है, क्योंकि उसमें भी लेखक का प्रयास प्रधान रूप में नहीं बल्कि उद्गार-रूप में अभिव्यक्त होता है।

हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियाँ अधिकतर वर्णनात्मक (narrative और descriptive) ढँग की थीं। जो लेखक उस समय इस तरह की कहानियाँ लिखते थे वे अब भी वैसी ही लिखते हैं। पंडित ज्वालादत्त शर्मा और पण्डित विश्वम्भरनाथ कौशिक की कहानियाँ इस प्रकार की हैं।

पिछले कुछ वर्षों से कहानी में भावुकतामूल संवेदना के तथ्य की ओर कुछ लेखकों का प्रयास आरम्भ हुआ—सिद्धान्त की गवेषणा से तो शायद इतना नहीं, (सम्भव है हमारा यह विचार गलत हो) जितना बँगला और अँग्रेजी कहानियों के आदर्श से। संवेदना की इस जागृति के लक्षण हमको श्रीयुत जयशङ्करप्रसाद और पण्डित विनोदशङ्कर व्यास की अधिकांश कहानियों में मुख्य रूप से देखने को मिलते हैं। साथ ही आक-

रसिकता के महत्व को ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होने लगी है। श्रीयुत प्रेमचन्द में यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ी हुई मालूम होती है। परिस्थिति का कोई आकस्मिक परिवर्तन और उसके परिणाम में चरित्र का नवीन आदर्शोन्मुखी प्रवाह उनका साधन है। श्रीयुत सुदर्शन प्रायः चरित्र के किसी अन्तरङ्ग गुप्त तथ्य को ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं अथवा फिर किसी स्वीकृत चरित्र को एक विशेष परिस्थिति में रखकर उसके अनुरूप ही किसी अतिसंवेदी तथ्य को खोजते हैं। श्रीयुत सुदर्शन और प्रेमचन्द, दोनों, का आधार वर्णनात्मक (narrative) ढङ्ग का ही रहता है।

विकास और परिवर्तन के समयों में साहित्य की किसी स्थायी प्रवृत्ति का पता लगाना कठिन हुआ करता है। प्रत्येक छोटी छोटी अवधि के भीतर उसमें नई-नई प्रगतियों और भावनाओं की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में जिस लेखक की प्रणाली अभी कल नई थी वही आज पुरानी होजाती है और नवीन प्रगति में उसका विशेष भाग नहीं होता। कहानी की परम आधुनिक स्फुरणा को देखते हुए, श्रीयुत हृदयेश की कहानियाँ वर्तमान प्रयास का अभिन्न अंग नहीं रहीं। उन्होंने यद्यपि भावुकता को स्थान दिया है, तथापि उनकी भावुकता, उनकी वर्णनात्मक (यहाँ descriptive) शैली में विलीन होकर घटना या चरित्र की किसी तीव्र संवेदना के लिए प्रायः असमर्थ हो जाती है। उनके वर्णन के अद्भुत (romantic) ढंग में संस्कृत-प्रणाली के अलङ्कार-प्रयोगों

और प्रकृति के लम्बे चित्रो का आजकल की चरित्र-संवेदना-और-आकस्मिकता-सम्बन्धी जिज्ञासा से कोई, घनिष्ट क्या, सामान्य सम्बन्ध भी नहीं है। तथापि, उनकी रचना की एक अलग सत्ता है जो अध्ययन करने योग्य है।

जिस कारण से विकास-कल में आज की वस्तुएँ कल पुरानी हो जाती हैं उसी कारण से यह कहना असम्भव है कि अगले दस या पन्द्रह वर्षों में हिन्दी कहानी का भविष्य क्या होगा और उस की धारा किस ओर बहेगी। साथ ही भारतीय वातावरण भी तो बडी जल्दी जल्दी बदल रहा है और नित्यप्रति नई नई समस्याएँ, नई नई भावनाएँ और नए नए आदर्श हमारे जीवन-संग्राम का अङ्ग बनते जा रहे हैं फिर भी, चाहे जो प्रवृत्तियाँ और चाहे जो भावनाएँ भविष्य में अस्तित्व को प्राप्त हों, कहानी के लिए वे अगम्य नहीं होंगी; और यह आशा की जा सकती है कि कहानी नए नए क्षेत्रों में प्रवेश करती हुई भी, अपनी सत्ता को बहुत समय तक बनाए रहेगी।

हिन्दी कहानी की वर्तमान साधारण प्रवृत्ति को हमने देखा। परन्तु एक सामान्य प्रवृत्ति के होने पर भी, भिन्न भिन्न लेखकों की रुचि और सामर्थ्य के अनुसार, भिन्न-भिन्न प्रकार के पाठकों की रुचि के लिए सर्वत्र भिन्न-भिन्न रुचियों और प्रकारो की कहानियाँ लिखी ही जाती हैं। कुछ कहानियाँ विशिष्ट उद्देश्य से लिखी जाती हैं, कुछ कहानियाँ उद्देश्य लेकर आरम्भ नहीं होतीं।

लिखने की पद्धतियों को देखते हुए मालूम होता है कि कहानी लिखने की ऐतिहासिक प्रणाली (अर्थात् जिसमें लेखक दूसरे के वृत्त का वर्णन करता है), आत्मचरित्र-प्रणाली (जिसमें पात्र या नायक स्वयं अपनी कथा कहता है)-कथोपकथन-प्रणाली (जिसमें सारी कहानी पात्रों के वार्तालाप द्वारा ही सुनाई जाती है), पत्र-प्रणाली (जिसमें तमाम कहानी पत्रो के रूप में कही जाती है) और डायरी प्रणाली (अर्थात् जिसमें पत्रों के स्थान में किसी पात्र की डायरी के उद्धरणों का प्रयोग किया जाता है) आदि अनेक रीतियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक रीति की अपनी अपनी सुविधाएँ और कठिनाइयाँ हैं। हिन्दी में ऐतिहासिक प्रणाली की कहानियाँ ही बहुत अधिक हैं; उसके बाद कुछ आत्मचरित्र और पत्रों के रूप में। कथोपकथन और डायरी के उदाहरण कम हैं। श्रीमती तेज-रानी दीक्षित, बी० ए०, की कहानी दूसरे प्रकार की है; और कुछ अंश में गुलेरी जी की 'उसने कहा था' प्रथम प्रकार की॥

विषय की दृष्टि से सामाजिक, तदनन्तर गार्हस्थ्य, कहानियों की बहुलता है। इन दोनों प्रकार की कहानियों को लेखक प्रायः उद्देश्य का साधन बनाया करते हैं। उद्देश्य में समाज-सुधार का दावा जबर्दस्त रहता है। जहाँ यह दावा झूठा होता है वहाँ प्रभाव-हीन या अश्लील कहानियाँ देखने में आती हैं। सामाजिक कहानियों के दूसरे पहलू में प्रायः समाज के विविध अंगों की रीति नीति का अध्ययन रहता है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक, ऐति-हासिक, पौराणिक, जासूसी, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, भावुक,

अद्भुत (romantic), साहसिक (adventurous), रूपक के ढँग की (allegorical), छायावादी, आदि असंख्य प्रकार की कहानियाँ हो सकती हैं। वैज्ञानिक कहानियों के अन्दर भौगोलिक, जीव विद्यासम्बन्धी आदि कहानियों की गणना की जा सकती है। हिन्दी में वैज्ञानिक और रूपक के ढँग की कहानियों का अभाव सा है। एक वैज्ञानिक कहानी 'सुन्दरी मनोरमा की कथा' कई वर्ष हुए, 'विज्ञान' में छपी थी।

प्रस्तुत संग्रह का यह दावा नहीं है कि उसमें हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ ग्यारह कहानियाँ दी गई हैं। यह उद्देश्य ही नहीं था। बल्कि, यह संग्रह वर्तमान कहानी साहित्य के विविध प्रकारों को उदाहृत करने के लिए उपस्थित किया गया है। साथ ही हिन्दी में लिखने वाले बंगाली लेखकों तथा स्त्री-लेखिकाओं का भी ध्यान था। अतएव, प्रतिनिधित्व की दृष्टि से एक बंगाली लेखक की कहानी और एक स्त्री-लेखिका की कहानी देना भी आवश्यक समझा गया। हिन्दी के जो दो तीन सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक हैं उनकी पद्धति की परिचायक एक एक कहानी देना अनिवार्य था। यहाँ भी, यह कहना असत्य होगा कि एक एक लेखक की सर्वश्रेष्ठ कहानी का ही इस पुस्तक में संग्रह किया गया है।

हमको यहाँ कहानी के सिद्धान्तों की भी कुछ चर्चा करनी थी और इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि उदाहृत कहानियों में गुण और दोष, दोनों, की थोड़ी-बहुत खोज की जा सके।

परन्तु, इस खोज का काम हमने अपने ऊपर नहीं लिया है। जिन लेखकों ने कृपा कर अपनी कहानियाँ उद्धृत करने की अनुमति हमको दी उनकी आज्ञा बिना उनकी कहानियों में गुण-दोष-विवेचन करने का हम अपने को अधिकारी नहीं समझते। अपनी कृपा के लिए वे सब हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं।

संग्रह में कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जिनकी अनुमति हमको उनके प्रकाशकों से मिली है। हम उनको भी धन्यवाद देते हैं। हमारा विचार था कि इस पुस्तक में एक कहानी पण्डित विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक की भी रहे। हमने, एक के बाद एक, उनसे तीन पत्रों में प्रार्थना की। परन्तु उन्होंने उन पत्रों का उत्तर देना शायद उचित नहीं समझा। हमने इसको भी शर्मा जी की कृपा के ही रूप में ग्रहण किया है, और एतदर्थ उन्हें भी अपनी कृतज्ञताञ्जलि समर्पित करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

'शिलीमुख।'

उसने कहा था

(चन्द्रधर शर्म्मा गुलेरी)

(१)

बड़े बड़े शहरों के इक्के-गाड़ी वालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथ कर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले, तङ्ग चक्करदार गलियों में हर एक लड्ढी वाले के लिये ठहर कर, सब्र का समुद्र उमड़ा कर, 'बचो खालसा जी,' 'हटो भाई जी,' 'ठहरना भाई,' 'आने दो लाला जी,' 'हटो बाछा' * कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारे वालों के जङ्गल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार बार चितौनी देने पर

---

* बाछड़ा

भी लीक से नहीं हटता तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिये; हट जा, करमा वालिए, हट जा, पुत्तां प्यारिए, बच जा, लम्बी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्ट वालों के बीच में हो कर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ है?'

'मगरे में;—और तेरे?'

'माझे में,—यहाँ कहाँ रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के आया हूँ, उनका घर गुरुबाज़ार में है।'

इतने में दूकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकरा कर पूछा—'तेरी कुड़माई * हो गई?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कह कर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे तीसरे दिन सब्ज़ी वाले के यहाँ, या दूध वाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो तीन

---

* मँगनी।

बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई ?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसी ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध, बोली—'हाँ, हो गई।"

'कब ?'

'कल;—देखते नहीं। यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू *।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ी वाले की दिन भर कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

'राम, राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन रात खन्दकों में बैठे बैठे हड्डियाँ अकड़ गई। लुधियाने से दसगुना जाड़ा, और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दीखता नहीं,—घण्टे दो घण्टे में कान के पड़दे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पचीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खन्दक के बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों "रिलीफ" आजायगी और फिर सात दिन की

* ओढ़नी।

छुट्टी। अपने हाथों झटका * करेंगे और पेट भर खा कर सो रहेंगे। उसी फरंगी† मेम के बाग में—मखमल सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।'

'चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ा कर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मार कर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अंधेरे में तीस तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?' सूबेदार हजारासिंह ने मुसकरा कर कहा, 'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?'

'सूबेदार जी, सच है' लहनासिंह बोला, 'पर करें क्या? हड्डियों हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।'

'उदमी‡ उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम

---

* बकरा मारना। † फ्रूँच। ‡ उद्यमी।

हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उसके हाथ में दे कर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पञ्जाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा* जमीन यहाँ माँग लूगा और फलों के बूटे† लगाऊँगा।'

'लाडी होराँ‡ को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फरंगी मेम—'

'चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देस देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं।'

'अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ। रात भर तुम अपने दोनो कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते

---

*जमीन का नाप। † पेड़। ‡ स्त्री होराँ—आदरवाचक।

हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और "निमोनिया" से मरने वालों को मुरब्बे* नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाए हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वजीरासिंह ने त्योरी चढ़ा कर कहा—"क्या मरने मारने की बात लगाई है? मरें जर्मनी और तुरक!"

(३)

दो पहर रात गई है। अन्धेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट† ओढ़ कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

'क्यों बोधा भाई, क्या है?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगा कर पूछा—'कहो कैसे हो?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी‡ छूट रही है। रोम रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

* नहरों के पास वर्ग भूमि। † ओवरकोट। ‡ कँपकँपी।

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम ?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुनबुन कर भेज रही है। गुरु उनका भला करें।' यों कह कर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो ?'

'और नहीं झूठ ?' यों कह कर नाँही करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहन कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई 'सूबेदार हजारासिंह !'

'कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हजूर' कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज्यादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे नीचे दो खेत काट कर रास्ता है।

तीन चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़ कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीन कर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार होगये। बोधा भी कम्बल उतार कर चलने लगा। लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप होगया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा बुझा कर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर कर खड़े होगये और जेब से सिगरट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद लहना की ओर हाथ बढ़ा कर कहा—

'लो तुम भी पियो।'

आँख मारते मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपा कर बोला—'लाओ, साहब।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आगए।

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजीमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?'

'लड़ाई खत्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं ?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है, पार-साल नक़ली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे—' हाँ, हाँ '—वहीं जब आप खोते * पर सवार थे और आपका खानसामा अबदुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? ' बेशक, पाजी कहीं का '—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आगया था न ? आपने कहा था कि रजमंट की मैस में लगायेंगे। ' हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े बड़े सींग ! दो दो फुट के तो होंगे ?'.

'हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया ?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ'—कह कर लहना-सिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिये।

अँधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन ? वजीरासिंह ?'

'हाँ, क्यों लहना ? क्या क़यामत आगई ? जरा तो आँख लगने दी होती ?'

---

* गधे।

(४)

'होश में आओ। क़यामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।'

'क्या?'

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या क़ैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा† साफ़ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है?'

'तो अब?'

'अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार होरां कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गए होंगे। सूबेदार से कहो कि एक दम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—'

ऐसी तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

---

† ससुरा (गाली)

'आठ नहीं, दस लाख। एक एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को तीन जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रक्खा। बाहर की तरफ़ जाकर एक दियासलाई जला कर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठा कर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब "आउ! मीन गौट्ट*" कहते हुये चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीनो गोले बीन-कर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन चार लिफ़ाफ़े और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—'क्यों लपटन साहब? मिजाज़ कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते है। पर यह तो कहो,

*हाय! मरे! (जर्मन)

ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आए ? हमारे लपटन साहब तो बिना "डैम" के पाँच लफ्ज़ भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानों जाड़े से बचाने के लिये, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिये चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज़ बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा* बिछा कर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़ पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आजायेंगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मंडी के बनियों को बह- काता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूंड़ दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—'क्या है?'

लहनासिंह ने उसे तो यह कह कर सुला दिया कि 'एक

* खटिया।

हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया' और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधी। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द होगया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्ला कर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुये थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़ कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनिटो में वे—

अचानक आवाज़ आई "वाह गुरु जी की फतह! वाह गुरु जी का खालसा!!" और धड़ा-धड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौक़े पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आगये। पीछे से सूबेदार हज़ारासिंह के जवान आग बरसते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खों दी फ़ौज आई! वाह गुरु जी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा! सत श्री अकाल-पुरुष!!!" और लड़ाई खतम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाक़ी को साफा कस कर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके

प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वज़ीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागज़ात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मर जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफून कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर अन्दर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँध कर एक गाड़ी में घायल लिटाए गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कह कर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर से बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़ कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—

तुम्हें बोधा की क़सम है और सूबेदारनी जी की सौगन्द है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।'

और तुम ?'

'मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिये भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं मैं खड़ा हूँ। वज़ीरासिंह मेरे पास है ही।"

'अच्छा, पर – '

'बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझ से जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया।'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा—'तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?'

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।'

गाडी के जाते ही लहना लेट गया। 'वजीरा पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।'

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनायें एक एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रङ्ग साफ होते हैं; समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दही वाले के यहाँ, सब्जी वाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कह कर वह भग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा' तो उसने कहा—'हाँ' लक हो

गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू ?' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ क्यों हुआ ?

'वजीरासिंह, पानी पिला दे।'

× × × ×

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुक़द्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह को चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे* में से निकल कर आया, बोला—लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा मिल आ।' लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारानी मुझे जानती है ? कब से ? रेजिमेंट के क्वाटरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना ?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई ?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—'

---

* जनाने।

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला',—'उसने कहा था।'

× × + ×

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौक़ा आया है। पर सरकार ने हम तीमियों* की एक घँघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फ़ौज में भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हे याद है, एक दिन टांगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठा कर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है।' तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती रोती सूबेदारनी ओबरी† में चली गई। लहना भी आँसू पोछता हुआ बाहर आया।

'वजीरासिंह, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

× × × ×

लहना का सिर अपनी गोदी पर रक्खे वजीरासिंह बैठा है।

---

* स्त्रियों। † अन्दर का घर।

जब माँगता है तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

'कौन ? कीरतसिंह ?'

वजीरा ने कुछ समझ कर कहा, 'हाँ।'

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट* पर मेरा सिर रखले।'

वजीरा ने वैसा ही किया।

'हाँ अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़† में यह आम खूब फलैगा। चाचा भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।'

वजीरासिंह के आँसू टप टप टपक रहे थे।

× × × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा-नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

---

* जाँघ। † आषाढ़।

आकाशदीप

(जयशंकर प्रसाद)

(१)

"बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो !"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो !"

"फिर अवसर न मिलेगा !"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डाल कर कोई शीत से मुक्त करता !"

"आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बंधन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगी। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे। पहले बंदी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बंधन

खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा—स्नेह का असम्भावित आलिंगन। दोनों ही अंधकार में मुक्त होगए। दूसरे वंदी ने हर्षातिरेक से, उसको गले लगा लिया। सहसा उस बंदी ने कहा—"यह क्या? तुम स्त्री हो?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है?—" अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है? तुम्हारा नाम?"

"चम्पा।"

तारक-खचित नील अम्बर और नील समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अंधकार से मिल कर पवन दुष्ट हो रहा था। समुद्र में आन्दोलन था। नौका लहरों में विकल थी। स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी। एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई, सावधानी से उसका कृपाण निकाल कर फिर लुढ़कते हुए, वंदी के समीप पहुँच गई। सहसा पोत से पथ-प्रदर्शक ने चिल्ला कर कहा—"आँधी!"

आपत्ति-सूचक तूर्य बजने लगा। सब सावधान होने लगे। वंदी युवक उसी तरह पड़ा रहा। किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था। पर युवक वंदी ढुलक कर उस रज्जु के पास पहुँचा जो पोत से संलग्न थी। तारे ढँक गए। तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा। भीषण आँधी, पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कन्दुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी। उस संकट में भी दोनों वंदी खिलखिला कर हँस पड़े। आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका।

(२)

अनन्त जलनिधि में ऊषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहरी किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शान्त था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बन्दी मुक्त हैं।

नायक ने कहा—"बुद्धगुप्त! तुमको मुक्त किसने किया?"

कृपाण दिखाकर बुद्धगुप्त ने कहा—"इसने।"

नायक ने कहा—"तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊँगा।"

"किसके लिए? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा—नायक! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ।"

"तुम? जलदस्यु बुद्धगुप्त? कदापि नहीं।"—चौंक कर नायक ने कहा और अपना कृपाण टटोलने लगा। चम्पा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था। वह क्रोध से उछल पड़ा।

"तो तुम द्वन्द्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ, जो विजयी होगा वही स्वामी होगा।"—इतना कह, बुद्धगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया। चम्पा ने कृपाण नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात—प्रतिघात आरम्भ हुआ। दोनो कुशल, दोनो त्वरित गति वाले थे। बड़ी निपुणता से बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़ कर, अपने दोनों हाथ स्वतंत्र कर लिए। चम्पा, भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गये। परन्तु बुद्धगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाण वाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि मे डाल उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कायर आँखें प्राणभिक्षा माँगने लगी।

बुद्धगुप्त ने कहा—"बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं?"

" मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ। मैं विश्वासघात न करूँगा।" बुद्धगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चम्पा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि और कोमल करों से वेदना-विहीन कर दिया। बुद्धगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्तबिन्दु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुद्धगुप्त ने पूछा-"हम लोग कहाँ होंगे?"

'बाली द्वीप से बहुत दूर, संभवतः एक नवीन द्वीप के पास, जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हम लोग वहाँ पहुँचेंगे?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँड़ लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़ कर बैठ गया। बुद्धगुप्त के पूछने पर उसने कहा—"यहाँ एक जलमग्न शैलखण्ड है। सावधान न रहने से नाव के टकराने का भय है।"

(३)

" तुम्हें इन लोगों ने बंदी क्यों बनाया?"

" वणिक मणिभद्र की पापवासना ने।"

' तुम्हारा घर कहाँ है?"

" जाह्नवी के तट पर। चम्पा नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ बरस से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के

समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ, मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनन्तता में निस्सहाय हूँ, अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझ से एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनाईं। उसी दिन से बन्दी बनादी गई।"—चम्पा रोष से जल रही थी।

मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ, चम्पा! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी?'

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी। वह जहाँ ले जाय।"—चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांग में बालकों के सदृश विश्वास था। हत्याव्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी रागरञ्जित संध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुंतल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक करुण-बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नई वस्तु का पता चला! वह थी—कोमलता।

उसी समय नायक ने कहा—"हम लोग द्वीप के पास पहुँच गए।"

वेला से नाव टकराई। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे। बुद्धगुप्त ने कहा—"जब इसका कोई नाम नहीं है तो हम लोग इसे चम्पाद्वीप कहेंगे।"

चम्पा हँस पड़ी।

(४)

पाँच बरस बाद—

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चन्द्र के उज्वल विजय पर अन्तरिक्ष में शरदूलक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चम्पा के एक उच्च सौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मञ्जूषा में दीप धरकर उसमें अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर खिंचने लगा। भोली-भोली आँखें उसे ऊपर चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे धीरे खींची गई। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों से हिलमिल जाय, किन्तु वैसा होना असंभव था। उसने आशाभरी आँखें फिरा ली।

सामने जलराशि का रजत-शृंगार था। वरुण-बालिकाओं के लिये लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैलमालाएँ बना रही थीं। और वे मायाविनी छलनाएँ अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं। दूर दूर से धीवरों की वंशी की झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरल-संकुल जलराशि में उसके कंडील का प्रतिबिम्ब अस्तव्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिये सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा—"जया!"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नील नभो मण्डल से मुख में शुभ्र नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती। बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो!" चम्पा ने कहा। जया चली गई।

दूरागत पवन चम्पा के अञ्चल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रखकर उसे चमत्कृत कर दिया। उसने फिर कर कहा—"बुद्धगुप्त !"

"बावली हो क्या ? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है ?"

"क्षीरनिधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिए दासियों से आकाश-दीप जलवाऊँ ?"

"हँसी आती है। तुम किसको दीप जला कर पथ दिखलाना चाहती हो ? उसको, जिसको तुमने भगवान मान लिया है ?"

"हाँ वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं, नहीं तो बुद्धगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते ?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चम्पारानी !"

"मुझे इस बंदीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे ही अधिकार में है, महानाविक। परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लाद कर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे। इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में—तारकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी, बुद्धगुप्त ! उस विजन अनन्त में जब माँझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे हम तुम परिश्रम से थक कर पालों में शरीर लपेट कर एक दूसरे का मुँह क्यों देखते थे ? वह नक्षत्रों की मधुर छाया—"

तो चम्पा ! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरा सर्वस्व हो।

नहीं, नहीं, तुमने दस्युवृत्ति तो छोड़ दी परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान् के नाम पर हँसी उड़ाते हो! मेरे आकाश-द्वीप पर व्यंग कर रहे! नाविक! उस प्रचण्ड आँधी में प्रकाश की एक एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, जब मैं छोटी थी मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में जला कर भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती-"भगवान्! मेरे पथ-भ्रष्ट नाविक को अंधकार में ठीक मार्ग पर ले चलना।" और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते—"साध्वी! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने भयानक संकटों में मेरी रक्षा की है।" वह गद्गद् हो जाती। मेरी मा! आह नाविक! यह उसी की पुण्य-स्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जल-दस्यु! हट जाओ।" सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठा कर हँस पड़ा।

'यह क्या चम्पा? तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।' कहता हुआ चला गया। चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

(५)

निर्जन समुद्र के उपकूल में वेला से टकरा कर लहरें बिखर जाती हैं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शान्त गम्भीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मिलन किरणों से विरक्त था।

चम्पा और जया धीरे धीरे उस तट पर आ कर खड़ी होगई। तरंग से उठते हुए पवन ने उनका अस्तव्यस्त कर दिया। जया

के संकेत से एक छोटी सी नौका आई। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चम्पा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को मिश्रित कर देना चाहती थी।

"इतना जल! इतनी शीतलता!! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी? नहीं। तो जैसे वेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलोक सदृश अनन्त जल में डूब कर बुझ जाऊँ?"—चम्पा के देखते देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में, चौथाई—आधा, फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फिरा लिया। देखा तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुद्धगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गई। दोनों पास-पास बैठ गए।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैलखण्ड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चम्पा, तो?"

"अच्छा होता बुद्धगुप्त! जल में बन्दी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है!"

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो। बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिये नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नई प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो……। कहो चम्पा! वह कृपाण से अपना हृदय-पिण्ड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे!"—महानाविक—जिसके नाम से वाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था—घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में विस्तृत जलप्रदेश

मे नील पिंगल-संध्या, प्रकृति की एक रहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिए। वहाँ एक आलिंगन हुआ, जैसे क्षितिज में आकाश और सिन्धु का। किन्तु उस परिरम्भ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कञ्चुकी से एक कृपाण निकाल लिया।

"बुद्धगुप्त। आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!—" चमक कर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वाश करूँ? मैं क्षमा कर दिया गया?"—आश्चर्य कम्पित कण्ठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वाश? कदापि नहीं बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वाश नहीं कर सकी, उसी ने धोका दिया, तब मैं कैसे कहूँ! मैं तुम्हें घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु। तुम्हें प्यार करती हूँ।"—चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन संध्या, तम से अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निश्वास लेकर महानाविक ने कहा—"इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाशगृह बनाऊँगा चम्पा! यहीं, उस पहाड़ी पर सम्भव है कि मेरे जीवन की धुँधली संध्या उससे आलोकपूर्ण होजाय!"

(६)

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी। बहुत

दूर तक सिन्धु-जल में निमग्न थी। सागर का उज्ज्वल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाये था। आज उसी शैलमाला पर चम्पा आदि के निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चम्पा को वनदेवी सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत से सैनिक और नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चम्पा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिये सुदृढ़ दीप-स्तम्भ बनवाया गया था। आज उसी का महोत्सव है। बुद्धगुप्त स्तम्भ के द्वार पर खड़ा था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-बालाएँ फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा—"यह क्या है, जया? इतनी बालिकाएँ कहाँ से बटोर लाईं?"

"आज रानी का ब्याह है न?"—कहकर जया ने हँस दिया। बुद्धगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोर कर चम्पा ने पूछा—"क्या यह सच है?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है, चम्पा! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती से दबाए हू।"

"चुप रहो महानाविक! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जान कर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ चम्पा! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती! बुद्धगुप्त वह दिन

कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय ! आह ! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते !"

जया नीचे चली गई थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुद्ध-गुप्त और चम्पा एकान्त में एक दूसरे के सामने बैठे थे।

बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिए। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा—"चम्पा ! हम लोग जन्मभूमि भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर न जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किये है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश ! वह महिमा की प्रतिमा ! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है; परन्तु मैं क्यों नहीं जाता ? जानती हो, इतना महत्व प्राप्त करने पर भी मैं कङ्गाल हूँ ! मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्त-मणि की तरह द्रवित हुआ।

'चम्पा ! मैं ईश्वर को नहीं मानता। मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गई हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड तम में मुस्कराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और कान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी, पर मैं न हँस सका।

"चलोगी चम्पा ! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राजरानी सी जन्मभूमि के अङ्क में ?—आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के लिये प्रस्थान करें। महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिन्धु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत पुंज को

दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह चम्पा! चलो।"

चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिए। किसी आकस्मिक झटके ने एक पल भर के लिए दोनों के अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य हो कर चम्पा ने कहा—"बुद्धगुप्त, मेरे लिए सब भूमि मिट्टी हैं; सब जल तरल हैं; सब पवन शीतल हैं। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिला कर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चम्पा। यहाँ रह कर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँगा—इसमें संदेह है। आह! किन लहरों में मेरा विनाश हो जाय!"—महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा—"तुम अकेली यहाँ क्या करोगी?"

"पहले विचार था कि कभी कभी इसी दीप-स्तम्भ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाश-दीप।"

(७)

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा—सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़ कर पश्चिम-उत्तर की ओर महा जल व्याल के समान सन्तरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन, द्वीपनिवासी उस माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि-सदृश उसकी पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चचलता से गिरा दिया।

आत्माराम

(प्रेमचन्द)

(१)

बेंदो ग्राम में महादेव सोनार एक सुविख्यात आदमी था। वह अपने सायबान में प्रातः से संध्या तक अंगेठी के सामने बैठा हुआ खटखट किया करता था। यह लगातार ध्वनि सुनने के लोग इतने अभ्यस्त हो गये थे कि जब किसी कारण से वह बन्द हो जाती तो जान पड़ता था कोई चीज गायब हो गयी है। वह नित्य प्रति एक बार प्रातःकाल अपने तोते का पिंजरा लिये कोई भजन गाता हुआ तालाब की ओर जाता था। उस धुँधले प्रकाश मे उसका अजर्र शरीर, पोपला मुँह और झुकी हुई कमर देख कर किसी अपरिचित मनुष्य को उसके पिशाच होने का भ्रम हो सकता था। ज्योंही लोगों के कानों में आवाज आती "सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता" लोग समझ जाते भोर हो गया।

महादेव का पारिवारिक जीवन सुखमय न था। उसके तीन पुत्र थे, तीन बहुएँ थीं, दर्जनों नाती-पोते थे, लेकिन उसके बोझ को हल्का करने वाला कोई न था। लड़के कहते, जब तक दादा जीते हैं हम जीवन का आनन्द भोग लें, फिर तो यह ढोल गले पड़े ही गा। बेचारे महादेव को कभी कभी निराहर ही रहना पड़ता। भोजन के समय उसके घर मे साम्यवाद का ऐसा गगन-भेदी निर्घोष होता कि वह भूखा ही उठ आता और नारियल का हुक्का पीता हुआ सो जाता। उसका व्यावसायिक जीवन और भी अशान्तिकारक था। यद्यपि वह अपने काम में निपुण था, उसकी

खटाई औरों से कहीं ज्यादा शुद्धि-कारक और उसकी रसायनिक क्रियायें कहीं ज्यादा कष्टसाध्य थीं, तथापि उसे आये दिन शक्की और धैर्यशून्य प्राणियों के अपशब्द सुनने पड़ते थे। पर महादेव अविचलित गाम्भीर्य से सब कुछ सुना करता। ज्यांही वह कलह शान्त होता वह अपने तोते की ओर देख कर पुकार उठता, 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता'। इस मन्त्र के जपते ही उसके चित्त को पूर्ण शान्ति प्राप्त हो जाती थी।

(२)

एक दिन संयोगवश किसी लड़के ने पिंजरे का द्वार खोल दिया। तोता उड़ गया। महादेव ने सिर उठा कर जो पिंजरे की ओर देखा तो उसका कलेजा सन्न हो गया। तोता कहाँ गया। उसने फिर पिंजरे को देखा, तोता गायब था। महादेव घबरा कर उठा और इधर उधर खपरैलों पर निगाह दौड़ाने लगा। उसे संसार में कोई वस्तु प्यारी थी तो वह यही तोता था। लड़के-बालों, नाती-पोतों से उसका जी भर गया था। लड़कों की चुल-बुल से उसके काम में विघ्न पड़ता था। बेटों से उसे प्रेम न था, इसलिये नहीं कि वे निकम्मे थे, बल्कि इस लिए कि उनके कारण वह अपने आनन्ददायी कुल्हड़ों की नियमित संख्या से वंचित रह जाता था। पड़ोसियों से उसे चिढ़ थी, इसलिये कि वह उसकी अंगेठी से आग निकाल ले जाते थे। इन समस्त विघ्न-बाधाओं से उसके लिये कोई पनाह थी तो वह यही तोता था। इससे उसे किसी प्रकार का कष्ट न होता था। वह अब उस अवस्था में था जब मनुष्य को शान्ति-योग के सिवा और कोई इच्छा नहीं रहती।

तोता एक खपरैल पर बैठा था। महादेव ने पिंजरा उतार लिया और उसे दिखा कर कहने लगा— आ, आ,-सत्त गुरुदत्त

शिवदत्त दाता'। लेकिन गाँव और घर के लड़के एकत्र होकर चिल्लाने और तालियाँ बजाने लगे, ऊपर से कौवो ने काँव काँव की रट लगायी। तोता उड़ा और गाँव से बाहर निकल कर एक पेड़ पर जा बैठा। महादेव खाली पिंजरा लिये उसके पीछे दौड़ा, हाँ दौड़ा। लोगों को उसकी द्रुतगामिता पर अचम्भा हो रहा था। मोह की इससे सुन्दर, इससे सजीव, इससे भावमय कल्पना नहीं की जा सकती।

दोपहर हो गया था। किसान लोग खेतों से चले आ रहे थे। उन्हें विनोद का अच्छा अवसर मिला। महादेव को चिढ़ाने में सभी को मजा आता था, किसी ने कंकर फेंके, किसी ने तालियाँ बजायीं, तोता फिर उड़ा और वहाँ से दूर आम के बाग में एक पेड़ की फुनगी पर जा बैठा। महादेव फिर खाली पिंजरा लिये मेंढक की भाँति उचकता हुआ चला। बाग में पहुँचा तो पैर के तलुवों से आग निकल रही थी, सिर चक्कर खा रहा था। जब जरा सावधान हुआ तो फिर पिंजरा उठा कर कहने लगा, 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता'। तोता फुनगी से उतर कर नीचे की एक डाल पर आ बैठा किन्तु महादेव की ओर सशंक नेत्रो से ताक रहा था। महादेव ने समझा, डर रहा है। वह पिंजरे को छोड़ कर आप एक दूसरे पेड़ की आड़ में छिप गया। तोते ने चारों ओर गौर से देखा, निश्शंक हो गया, उतरा और आकर पिंजरे के ऊपर बैठ गया। महादेव का हृदय उछलने लगा। 'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त' का मन्त्र जपता हुआ धीरे धीरे तोते के समीप आया, और लपका कि तोते को पकड़ ले, किन्तु तोता हाथ न आया, फिर पेड़ पर जा बैठा।

साँझ तक यही हाल रहा। तोता कभी इस डाल पर जाता, कभी उस डाल पर, कभी पिंजरे पर आ बैठता, कभी पिंजरे के

द्वार पर बैठ अपने दाना-पानी की प्यालियों को देखता, फिर उड़ जाता। बुड्ढा अगर मूर्तिमान मोह था तो तोता मूर्तिमती माया। यहाँ तक कि शाम हो गई, माया और मोह का यह संग्राम अंधकार में विलीन हो गया।

(३)

रात हो गई। चारों ओर निविड़ अंधकार छा गया। तोता न जाने पत्तों में कहाँ छिपा बैठा था। महादेव जानता था कि रात को तोता कहीं उड़ कर नहीं जा सकता और न पिंजरे ही में आ सकता है, तिस पर भी वह इस जगह से हिलने का नाम न लेता था। आज उसने दिन भर कुछ नहीं खाया, रात के भोजन का समय भी निकल गया, पानी की एक बूँद भी उसके कंठ में न गयी, लेकिन उसे न भूख थी न प्यास। तोते के बिना उसे अपना जीवन निस्सार, शुष्क और सूना जान पड़ता था। वह दिन-रात काम करता था, इसलिये कि यह उसकी अन्तःप्रेरणा थी, जीवन के और काम इसलिये करता था कि आदत थी। इन कामों में उसे अपनी सजीविता का लेशमात्र भी ज्ञान न होता था। तोता ही वह वस्तु था जो उसे चेतना की याद दिलाता था। उसका हाथ से जाना जीव का देह त्याग करना था।

महादेव दिन भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा रह कर झपकियाँ ले लेता था, किन्तु एक क्षण में फिर चौंक कर आँख खोल देता और उस विस्तृत अंधकार में उसकी आवाज सुनाई देती—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।'

आधी रात गुजर गई थी। सहसा वह कोई आहट पाकर चौंका तो देखा कि एक दूसरे वृक्ष के नीचे एक धुँधला दीपक जल रहा है और कई आदमी बैठे हुए आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। वह सब चिलम पी रहे थे। तमाखू की महक ने उसे

अधीर कर दिया। उच्च स्वर से बोला—'सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता' और उन आदमियो की ओर चिलम पीने चला, किन्तु जिस प्रकार बन्दूक की आवाज़ सुनते ही हिरन भाग जाते हैं उसी प्रकार उसे आते देख वह सब के सब उठकर भागे। कोई इधर गया, कोई उधर। महादेव चिल्लाने लगा—'ठहरो ठहरो' एकाएक उसे ध्यान आ गया, यह सब चोर हैं। वह ज़ोर से चिल्ला उठा—'चोर चोर, पकड़ो पकड़ो!' चोरो ने पीछे फिर कर भी न देखा।

महादेव दीपक के पास गया तो उसे एक कलसा रक्खा हुआ मिला। मोरचे से काला हो रहा था। महादेव का हृदय उछलने लगा। उसने कलसे में हाथ डाला तो मोहरें थीं। उसने एक मोहर बाहर निकाली और दीपक के उजाले में देखा, हाँ मोहर थी। उसने तुरन्त कलसा उठा लिया; दीपक बुझा दिया और पेड़ के नीचे छिपकर बैठा रहा, साहु से चोर बन गया।

उसे फिर शंका हुई, ऐसा न हो चोर लौट आयें और मुझे अकेला देख कर मोहरें छीन लें। उसने कुछ मोहरें कमर में बाँधीं, फिर एक सूखी लकड़ी से ज़मीन की मिट्टी हटाकर कई गड्ढे बनाये, उन्हें मोहरों से भर कर मिट्टी से ढाँक दिया।

(४)

महादेव के अन्तःनेत्रो के सामने अब एक दूसरा ही जगत् था, चिंताओं और कल्पनाओं से परिपूर्ण। यद्यपि अभी कोष के हाथ से निकल जाने का भय था, पर अभिलाषाओं ने अपना काम शुरू कर दिया। एक पक्का मकान बन गया, सराफ़े की एक भारी दूकान खुल गई, निज सम्बन्धियों से फिर नाता जुड़ गया, विलास की सामग्रियाँ एकत्रित हो गईं, तब तीर्थयात्रा

करने चले और वहाँ से लौट कर बड़े समारोह से यज्ञ, ब्रह्मभोज, हुआ। इसके पश्चात् एक शिवालय और कुआँ बन गया, एक उद्यान भी आरोपित हो गया और वहाँ वह नित्य-प्रति कथापुराण सुनने लगा। साधु-सन्तों का आदर-सत्कार होने लगा।

अकस्मात् उसे ध्यान आया, कहीं चोर आ जायें तो मैं भागूँगा क्योंकर। उसने परीक्षा करने के लिए कलसा उठाया और दो सौ पग तक बेतहाशा भागा हुआ चला गया। जान पड़ता था उसके पैरों में पर लग गए हैं। चिन्ता शांत हो गयी। इन्हीं कल्पनाओं में रात व्यतीत होगयी। ऊषा का आगमन हुआ, हवा जगी, चिड़ियाँ गाने लगीं। सहसा महादेव के कानों में आवाज आयी—

"सत गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

यह बोल सदैव महादेव की जिह्वा पर रहता था, दिन में सहस्रों ही बार ये शब्द उसके मुख से निकलते थे, पर उनका धार्मिक भाव कभी उसके अन्तःकरण को स्पर्श न करता था। जैसे किसी बाजे से राग निकलता है उसी प्रकार उसके मुँह से यह बोल निकलता था, निरर्थक और प्रभावशून्य। तब उसका हृदय-रूपी वृक्ष पत्र-पल्लव-विहीन था। यह निर्मल वायु उसे गुंजरित न कर सकती थी। पर अब उस वृक्ष में कोपलें और शाखायें निकल आयी थीं, इस वायु-प्रवाह से झूम उठा; गुंजित हो गया।

अरुणोदय का समय था। प्रकृति एक अनुरागमय प्रकाश में डूबी हुई थी। उसी समय तोता परों को जोड़े हुए ऊँची डाली से उतरा, जैसे आकाश से कोई तारा टूटे, और आकर पिंजड़े में बैठ गया। महादेव प्रफुल्लित होकर दौड़ा और पिंजड़े को

उठाकर बोला—"आओ आत्माराम, तुमने कष्ट तो बहुत दिया पर मेरा जीवन भी सफल कर दिया। अब तुम्हें चाँदी के पिंजरे में रक्खूँगा और सोने से मढ़ दूँगा।" उसके रोम रोम से परमात्मा के गुणानुवाद की ध्वनि निकलने लगी। प्रभु तुम कितने दयावान हो, यह तुम्हारा असीम वात्सल्य है, नहीं तो मुझ जैसा पापी, पतित प्राणी कब इस कृपा के योग्य था। इन पवित्र भावों से उसकी आत्मा विह्वल हो गई, वह अनुरक्त होकर बोल उठा—

"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

उसने एक हाथ में पिंजरा लटकाया, बगल में कलसा दबाया और घर चला।

(५)

महादेव घर पहुँचा तो अभी कुछ अंधेरा था। रास्ते मे एक कुत्ते के सिवाय और किसी से भेंट न हुई और कुत्ते को मोहरों से विशेष प्रेम नहीं होता। उसने कलसे को एक नाँद में छिपा दिया और उसे कोयले से अच्छी तरह ढाँक कर अपनी कोठरी में रख आया। जब दिन निकल आया तो वह सीधे पुरोहित जी के घर जा पहुँचा। पुरोहित जी पूजा पर बैठे सोच रहे थे। कल ही मुकदमे की पेशी है और अभी तक हाथ में कौड़ी भी नहीं—जजमानों में कोई साँस भी नहीं लेता। इतने में महादेव ने पालागन किया। पंडितजी ने मुँह फेर लिया, यह अमंगल मूर्ति कहाँ से आ पहुँची, मालूम नहीं दाना भी मयस्सर होगा या नहीं। रुष्ट होकर पूछा—"क्या है जी, क्या कहते हो, जानते नहीं कि हम इस बेला पूजा पर रहते हैं?" महादेव ने कहा—"महाराज आज मेरे यहाँ सत्यनारायण की कथा है।"

पुरोहित जी विस्मित हो गए, कानों पर विश्वास न हुआ। महादेव के घर कथा का होना उतनी ही असाधारण घटना थी जितनी अपने घर से किसी भिखारी के लिए भीख निकालना। पूछा—"आज क्या है ?"

महादेव बोला—"कुछ नहीं, ऐसी ही इच्छा हुई कि आज भगवान की कथा सुन लूँ।"

प्रभात ही से तैयारी होने लगी। वेंदो और अन्य निकटवर्ती गाँवों में सुपारी फिरी। कथा के उपरान्त भोज का भी नेवता था। जो सुनता आश्चर्य करता। यह आज रेत में दूब कैसे जमी।

संध्या समय जब सब लोग जमा होगए, पंडित जी अपने सिंहासन पर विराजमान हुए तो महादेव खड़ा होकर उच्च स्वर से बोला—भाइयो, मेरी सारी उम्र छल-कपट में कट गई। मैंने न जाने कितने आदमियों को दग़ा दिया, कितना खरे को खोटा किया, पर अब भगवान ने मुझ पर दया की है, वह मेरे मुँह की कालिख को मिटाना चाहते हैं। मैं आप सभी भाइयों से ललकार कर कहता हूँ कि जिसका मेरे जिम्मे जो कुछ आता हो, जिसकी जमा मैंने मार ली हो, जिसके चोखे माल को खोटा कर दिया हो, वह आकर अपनी एक एक कौड़ी चुका ले, अगर कोई यहाँ न आ सका हो तो आप लोग उससे जाकर कह दीजिये, कल से एक महीने तक जब जी चाहे आवे और अपना हिसाब चुकता करले। गवाही साखी का काम नहीं।

सब लोग सन्नाटे में आ गये। कोई मार्मिक भाव से सिर हिलाकर बोला—'हम कहते न थे ?' किसी ने अविश्वास से कहा—'क्या खा के भरेगा, हजारों का टोटल होजायगा।'

एक ठाकुर ने ठठोली की-और जो लोग सुरधाम चले गये ?

महादेव ने उत्तर दिया—'उनके घर वाले तो होंगे।'

किन्तु इस समय लोगों को वसूली की इतनी इच्छा न थी जितनी यह जानने की कि इसे इतना धन मिल कहाँ से गया। किसी को महादेव के पास आने का साहस न हुआ। देहात के आदमी थे, गड़े मुर्दे उखाड़ना क्या जानें। फिर प्राय: लोगों को याद भी न था कि उन्हें महादेव से क्या पाना है और ऐसे पवित्र अवसर पर भूल-चूक होजाने का भय उनका मुँह बन्द किये हुए था। सब में बड़ी बात यह थी कि महादेव की साधुता ने उन्हें वशीभूत कर लिया था।

अचानक पुरोहित जी बोले—तुम्हें याद है, मैंने तुम्हें एक कंठा बनाने के लिए सोना दिया था और तुमने कई माशे तौल में उड़ा दिये थे।

महादेव—हाँ याद है, आपका कितना नुकसान हुआ होगा?

पुरोहित—५०) से कम न होगा।

महादेव ने कमर से दो मोहरें निकालीं और पुरोहित जी के सामने रख दीं।

पुरोहित की लोलुपता पर टीकाएँ होने लगी। यह बेईमानी है, बहुत हुआ तो दो चार रुपये का नुकसान हुआ होगा। बेचारे से ५०) ऐंठ लिये। नारायण का भी डर नहीं। बनने को पंडित, पर नीयत ऐसी खराब! राम राम!

लोगों को महादेव से एक श्रद्धा सी होगई। एक घंटा बीत गया पर उन सहस्रों मनुष्यों में से एक भी न खड़ा हुआ। तब महादेव ने फिर कहा—"मालूम होता है आप लोग अपना अपना हिसाब भूल गए हैं। इसलिये आज कथा होने दीजिये, मैं एक महीने तक आपकी राह देखूँगा। इसके पीछे तीर्थयात्रा

करने चला जाऊँगा। आप सब भाइयों से मेरी विनती है कि आप मेरा उद्धार करें।

एक महीने तक महादेव लेनदारों की राह देखता रहा। रात को चोरों के भय से नींद न आती। अब वह कोई काम न करता। शराब का चसका भी छूटा। साधु-अभ्यागत जो द्वार पर आजाते उनका यथायोग्य सत्कार करता। दूर दूर उसका सुयश फैल गया। यहाँ तक कि महीना पूरा हो गया और एक आदमी भी हिसाब चुकाने न आया। अब महादेव को ज्ञात हुआ कि संसार में कितना धर्म, कितना सद्व्यवहार है। अब उसे मालूम हुआ कि संसार बुरों के लिए बुरा है, पर अच्छों के लिये अच्छा है।

(६)

इस घटना को हुए ५० वर्ष बीत चुके हैं। आप बेंदो जाइये तो दूर ही से एक सुनहरा कलश दिखाई देता है। यह ठाकुरद्वारे का कलश है। उससे मिला हुआ एक पक्का तालाब है जिसमें खूब कमल खिले रहते हैं। उसकी मछलियाँ कोई नहीं पकड़ता। तालाब के किनारे एक विशाल समाधि है। यही आत्माराम का स्मृतिचिन्ह है। उनके सम्बन्ध में विभिन्न किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। कोई कहता है, उनका रत्नजटित पिंजरा स्वर्ग को चला गया, कोई कहता है वह 'सत्त गुरुदत्त' कहते हुए अंतर्धान हो गये पर यथार्थ यह है कि उस पक्षीरूपी चन्द्रको किसी बिल्लीरूपी राहु ने ग्रस लिया। लोग कहते हैं, आधीरात को अभीतक तालाब के किनारे आवाज आती है—

"सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।"

महादेव के विषय में भी कितनी जनश्रुतियाँ हैं। उनमें सब

से मान्य यह है कि आत्माराम के समाधिस्थ होने के बाद वह कई सन्यासियों के साथ हिमालय चले गये और वहाँ से लौट कर न आये। उनका नाम आत्माराम प्रसिद्ध हो गया।

अमर जीवन

(लेखक—सुदर्शन)

(१)

बाबू इन्द्रनाथ के क़लम में जादू था। जब लिखने बैठते, साहित्य-सुधा की धाराएँ बह निकलतीं; जैसे पहाड़ों से मीठे जल की नदियाँ फूट निकलती हैं। उनकी उम्र अधिक न थी! ज्यादा से ज्यादा पचास साल के होंगे। मगर उनकी कविता और कल्पना देखकर जी खुश हो जाता था। साधारण से साधारण विषय भी लेते तो उसमें जान डाल देते। उनके निबंध पढ़कर लोग मंत्र-मुग्ध हो जाते। कहते—"मन मोह लेता है। उनकी उपमाएँ कैसी सुन्दर हैं, शब्द कैसे मधुर हैं, पाठक किसी दिव्य लोक में पहुँच जाते हैं, यही जी चाहता है पढ़ते ही रहें, कभी बस न करें।" उनकी रचना में मनोरञ्जन, सौन्दर्य, मोहिनी, सब कुछ था, और सब से बढ़ कर सादगी थी। वे अपने पाठकों पर बड़े बड़े कठिन शब्दों से रोब न डालते थे। यह ढँग उन्हें कभी पसन्द न आता था। उन्हें जो कुछ कहना होता, सादे और सरल शब्दों में कह देते, और यही उनका सब से बड़ा गुण था। एक वर्ष पहले लोग उनके नाम से भी परिचित न थे, और आज हिन्दी के क्षेत्र में कोने कोने में उनके नाम का डंका बजता है। कोई छोटे से छोटा भी ग्राम ऐसा न होगा जिसमें 'भाव-सुषमा' और 'सोम-सागर' की एक दो प्रतियाँ न हों। इन ग्रन्थ-रत्नों को जो पढ़ता, उसी पर जादू हो जाता।

परन्तु इन्द्रनाथ की आर्थिक दशा संतोषजनक न थी। इतनी

सिर-पच्ची करने के बाद भी उनको इतनी आय न होती थी कि चिन्ता-रहित जीवन बिता सकते। प्रायः दुखी रहते, और अपने देश की शोचनीय दशा पर रोया करते। किसे ख़याल था कि उनके प्रान्त का सब से बड़ा लेखक, सब से प्यारा कविराज पैसे-पैसे को मुहताज होगा। उनका प्रकाशक कमाता था, वे भूखों मरते थे। संसार का यह दुर्व्यवहार देख कर उनका दिल खट्टा होजाता, और कभी कभी तो इतने जोश में आजाते कि लिखे-लिखाए लेख फाड़ डालते, लेखनी तोड़ देते, और कहते—अब लिखने का कभी नाम न लूँगा।

(२)

प्रातः काल था। इन्द्रनाथ धूप में बैठे एक मासिक पत्रिका के पत्रे उलटते हुए मुस्करा रहे थे। उनकी स्त्री मनोरमा ने पूछा—क्यों? क्या है, जो इतने खुश हो रहे हो?

इन्द्रनाथ ने मनोरमा की तरफ़ प्रेम-भरी दृष्टि से देखा और उत्तर दिया—"भाव-सुषमा" की समालोचना है। बहुत प्रशंसा की है।

मनोरमा के मन में उद्गार की गुदगुदी होने लगी। ज़रा आगे खिसक कर बोली—प्रशंसा करते हैं, समझते ख़ाक भी नहीं।

इन्द्रनाथ—अरे!

मनोरमा—झूठ नहीं है। यहाँ के लोग मूर्ख हैं, तुम्हारी क़द्र क्या जाने। भैंस के आगे वीणा बज रही है।

इन्द्रनाथ—मेरी रचना के गुण को समझने वाले वास्तव में थोड़े हैं। सारे शहर में केवल एक व्यक्ति है, जिसे इन बारीकियों का ज्ञान है।

मनोरमा—कौन ?

इन्द्रनाथ—तुम्हें डाह तो न होगा। वह एक स्त्री है,पर ऐसी योग्यता मैंने किसी पुरुष में भी नहीं देखी।

मनोरमा को कुछ सन्देह हुआ। धीरे से बोली—कौन है ?

इन्द्रनाथ—श्रीमती मनोरमा देवी रानी। तुमने भी नाम तो सुना होगा।

मनोरमा ने हँस कर मुँह फेर लिया और बोली—जाओ तुम तो हँसी करते हो।

इन्द्रनाथ—नहीं मनोरमा! वास्तव में मेरी यही सम्मति है।

मनोरमा—बस, कोई बनाना तुमसे सीख जाय।

इन्द्रनाथ—मेरी हिम्मत तुम न बढ़ातीं तो मैं इतनी उन्नति कभी न करता।

मनोरम—बड़ी पण्डिता हूँ न।

इन्द्रनाथ—यह मेरे दिल से पूछो। सोना अपना मूल्य नहीं जानता।

मनोरमा—मगर तुम खुशामद करना खूब जानते हो।

इन्द्रनाथ—समालोचना सुनोगी ?

मनोरमा—सुनाओ।

इन्द्रनाथ ने पढ़ना आरम्भ किया—

'भाव-सुषमा हमारे सामने है। हमने इसे पढ़ा और कई दिन तक मन पर नशा सा छाया रहा। ऐसा प्रतीत होता है मानों हम किसी अन्य लोक में आ पहुँचे हैं। इसमें सौन्दर्य है, इसमें सादगी है। इसमें स्वाभाविकता है,इसमें कल्पना है। इसमें

माधुरी है, इसमें सरलता है। और क्या कहें—इसमे सब कुछ है।'

सहसा किसी ने नीचे से आवाज दी-"बाबू इन्द्रनाथ।"

इन्द्रनाथ और मनोरमा दोनों चौंक पड़े, जैसे किसी सुमधुर संगीत के बीच में कोई ऊँची आवाज से रोने लग जाय। उस समय रोगी के दिल पर क्या गुजरती है, यह वही समझता है। वह झुँझला उठता है, लड़ने-मारने को तैयार हो जाता है।

बाबू इन्द्रनाथ ने पत्रिका चारपाई पर रख दी, और नीचे गए। वापस आए, तो उनका चेहरा उदास था और आँखों मे आँसू लहरा रहे थे।

मनोरमा ने पूछा-कौन था?

इ०--मकान-मालिक था।

मनोरमा का मुँह पीला हो गया। दुखी होकर बोली—क्या कहता था? यह तो बुरे ढङ्ग से पीछे पड़ा है। चार दिन भी सब्र नहीं करता।

इ०-कहता है, अब तो नालिश ही करनी पड़ेगी।

मनोरमा-कितना किराया है? तीन महीने का?

जब हमारे पास रुपया नहीं होता तब हम हिसाब नहीं करते। हिसाब करते हुए हमें डर लगता है। इन्द्रनाथ ने मनोरमा की बात को अनसुना कर दिया और कहा--जी चाहता है कोई नौकरी कर लूँ। अब यह रोज रोज का अपमान नहीं सहा जाता। प्रशंसा करने को सभी हैं, सहायता करने को कोई भी नहीं। और खाली प्रशंसा से किसी का पेट कब भरा है!

मनोरमा ने अपने पति की ओर देखा और कहा—कर देखो!

मगर तुम्हारा यह लिखने का चसका तो न छूटेगा। यह भी दूसरी शराब है।

इ०—हुआ करे, छोड़ दूँगा। तुमने मुझे अभी समझा ही नहीं।

मनोरमा—खूब समझती हूँ। दफ्तर में काम कर सकोगे?

इ०—पैसे मिलेंगे तब क्यों न करूँगा।

मनोरमा—अफसरों की झिड़कियाँ सह सकोगे?

इ०—मकान-मालिक के तगादों से तो जान बचेगी।

मनोरमा—यदि किसी ने कह दिया—अरे! ये तो वही कविराज हैं जो साहित्य-क्षेत्र में इतने प्रसिद्ध हैं। हमने समझा था, कोई बड़ा आदमी होगा, पर यह तो साधारण मुन्शी निकला। तब?

इ०—मैं समझूँगा, किसी और को कहते हैं। अब और क्या करूँ! प्रकाशकों ने तो मेरे परिश्रम पर डाका मारने का निश्चय कर लिया है। कहते हैं, जब कोई ज्यादा न देगा तब झखमार कर हमारी शर्तें स्वीकार करेगा। वे रुपयेवाले हैं, रुपये का मूल्य समझते हैं, कला का मूल्य नहीं समझते। ऐसे स्वार्थी मुझे क्या दे सकेंगे। योरप में होता तो सोने का महल खड़ा कर लिया होता। यहाँ अपने भाग्य को रो रहे हैं।

मनोरमा—तुम अपना दिल छोटा न करो। सब ठीक हो जायगा।

इ०—तो आज जाऊँ, लाला रंगीलाल से मिल आऊँ। मेरा दिल कहता है, काम बन जायगा। बड़े सज्जन हैं।

मनोरमा—जरा तारीफ कर देना। बड़े आदमी दो बातों से ही खुश हो जाते हैं।

इ०—मुझे इस तरह पढ़ाने की जरूरत नहीं।

मनोरमा—यह काम हो जाय, तो समझें गंगा नहा लिया।

इ०—उनका तो बहुत अधिकार है, चाहे तो आज ही नौकरी दे दें। उठो, कपड़े बदलवा दो। बहुत मैले हो गए हैं।

मनोरमा ने उठकर सन्दूक खोला, और कपड़े देखने लगी। परन्तु कपड़े धुलकर नहीं आये थे। मनोरमा के हृदय पर दूसरा आघात लगा। उसका मुँह हार्दिक वेदना से पीला पड़ गया। यह वही प्रसन्न-वदन, वही प्रफुल्ल हृदय मनोरमा थी, जिसके कहकहों से सारा मुहल्ला गूँजता रहता था, पर इस समय वह कितनी अशान्त, कैसी उदास थी। पंछी कभी फूल की डालियों पर बैठ कर किलोलें करता है, कभी पंख समेट कर चुप-चाप अपने घोंसले में बैठ जाता है।

इन्द्रनाथ ने ठंडी आह भरी, और कहा—मनोरमा! अब नहीं सहा जाता।

यह वही प्रतिभा-सम्पन्न, वही सुप्रसिद्ध लेखक हैं, जिसकी कविता देश के कोने कोने में आदर-सम्मान से पढ़ी जाती है, जिसकी लेखनी की रचनायें पत्थर-दिलों को भी मोह लेती हैं, जिसकी शब्द-रचना को लोग तरसते हैं, जिसका नाम सुनकर लोग श्रद्धा-भाव से गरदन झुका देते हैं, जिसके ग्रन्थ दुष्टात्माओं के लिये धर्म-उपदेशों से कम नहीं। आज वही पचास रुपये की नौकरी करने चला है। काव्य, कल्पना और कला की नगरी का राजा भीख माँगने निकला है।

मनोरमा ने अपने पति की वह हीन दशा देखी, तो आह मार कर जमीन पर बैठ गई। इस समय उसके हृदय में एक ही विचार था—यह सिर किसी के सामने कैसे झुकेगा?

(३)

एक घण्टे के बाद इन्द्रनाथ पे-आफ़िस के सुपरिंटेंडेंट लाला रंगीलाल के दफ्तर में थे। लाला रङ्गीलाल एक पुस्तक पढ़ रहे थे। उन्होंने बहुत तपाक के साथ उठ कर इन्द्रनाथ से हाथ मिलाया, और माफ़ी माँगते हुये कहा—मुझे केवल पाँच मिनट की आज्ञा दीजिये।

यह कह कर लाला रङ्गीलाल ने सामने पड़ी हुई कुरसी की तरफ इशारा किया, और अपनी पुस्तक पढ़ने में लीन हो गये। इन्द्रनाथ को यह व्यवहार अत्यन्त लज्जा-जनक मालूम हुआ। उनको ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने खुल्लम-खुल्ला निरादर कर दिया हो। उनका चेहरा तमतमा उठा। ख़याल आया, कैसा असभ्य है। इसे अपने समय का ख़याल है, हमारे समय की परवा नहीं। और यदि अभी से यह दशा है तो नौकर हो जाने के बाद तो शायद द्वार पर प्रतीक्षा करनी होगी।

इन्द्रनाथ ने उठने का सङ्कल्प किया, मगर एकाएक मकान-मालिक की अग्नि-मूर्ति याद आगई। क्या फिर वही आँखें देखूँगा? क्या फिर वही धौंस सुनूँगा? इन्द्रनाथ चुपचाप बैठ गये, जैसे हवा में उड़ते हुये काग़ज़ों पर कोई लोहे का टुकड़ा धर दे। इन काग़ज़ के टुकड़ों की लोहे के सम्मुख क्या शक्ति है। आत्मा को प्रकृति ने दबा लिया। यह प्रतीक्षा का समय इन्द्रनाथ के लिये आत्मिक यन्त्रणा का समय था। और जब लाला रङ्गीलाल ने पुस्तक समाप्त कर ली तब इन्द्रनाथ को ऐसा मालूम हुआ, जैसे कमरे में हवा का अभाव है, और उनका दम घुटा जा रहा है। मगर रङ्गीलाल अपनी पढ़ी हुई पुस्तक के ध्यान में तन्मय थे। थोड़ी देर तक वे योग की सी अवस्था

में आँखे बन्द किये पड़े रहे, फिर बड़बड़ाने लगे—'वाह वाह! क्या कहना !! कितने ऊँचे विचार हैं, कैसे पवित्र भाव !!!'

इन्द्रनाथ उनकी ओर आँखें फाड़ कर देखने लगे कि ये कहते क्या हैं? रङ्गीलाल ने मेज़ पर झुक कर कहा—फ़रमाइए जनाब! क्या हुक्म है?

इतने में कमरे का द्वार खुला, बड़े साहब हाथ में टोप लिये हुए अन्दर आये। लाला रङ्गीलाल खड़े हो गये।

"गुड मार्निंग!"

"गुड मार्निङ्ग! यह पुस्तक कैसा है?"

रङ्गीलाल—बहुत बढ़िया।

साहब ने पुस्तक एक हाथ में लेकर दूसरे हाथ से उसके पन्ने उलटते हुए कहा—टो आपको बहोट अचा मालूम हुआ?।

रङ्गीलाल—अच्छा का सवाल नहीं, मैंने ऐसी पुस्तक हिन्दी में आज तक नहीं देखी।

साहब—इटना अचा है?

रङ्गीलाल—पढ़ने पर मजा मिल गया।

साहब—इँगिलश में किस किताब के माफिक है?

रङ्गीलाल—यह मैं नहीं जानता, पर पुस्तक बहुत अच्छी है।

साहब—ड्रामा है क्या?

रङ्गीलाल—नहीं साहब। 'पोयट्री' है।

साहब—हिन्दी का पोयट्री क्या होगा! 'रबिश' होगा।

रङ्गीलाल—यदि आप पढ़ सकते तो ऐसा कभी न कहते।

सहसा इन्द्रनाथ की दृष्टि पुस्तक के कवर की तरफ गई,

तो वे चौंक पड़े। वह पुस्तक 'भाव-सुषमा' थी। उनका मन-मयूर नाचने लगा। उनका दिल गुलाब के फूल के समान खिल गया। वे अब इस दुनिया में न थे, किसी और दुनिया में थे। उन्हें अब इस तुच्छ, निकृष्ट, नश्वर दुनिया की मोहनी माया—दौलत—की परवा न थी। सोचते थे, दौलत क्या है? आती है, चली जाती है। यह उड़ती-फिरती चिड़िया है, जिसे पिंजरे में रखना असम्भव है। मेरे पास धन नहीं, धनवान् तो हैं। इस आदमी के दिल में मेरा कितना मान है, कैसी भक्ति-भावना है? पुस्तक की ओर इस तरह देखता है, जैसे कोई भक्त अपने उपास्य-देव की ओर देखता हो। पढ़ता था तब आँखें चमकती थीं। मुझे इस दशा में देखेगा तो क्या कहेगा? चौंक उठेगा। चकित रह जायगा। उसे आशा न होगी कि मैं भिखारी बनकर उसके सामने हाथ पसारूँगा, और मैं—मैं उसके सामने आँखें न उठा सकूँगा। लज्जा से भूमि में गड़ जाऊँगा। मुझे नौकरी मिल जायगी पर आत्मगौरव की दौलत जाती रहेगी। यह सौदा महँगा है। लोग आत्म-गौरव की खातिर सर्वस्व लुटा देते हैं। क्या मैं चाँदी के कुछ सिक्कों के लिए इस अमोल धन से शून्य रह जाऊँगा? नहीं, यह भूल होगी। मैं यह भूल कभी न करूँगा।

यह सोच कर इन्द्रनाथ धीरे से उठे और द्वार खोल कर बाहर निकल गये। इस समय उनके मुँह पर आध्यात्मिक आभा थी, जो इस असार संसार में कम ही दिखाई देती है। उनकी आँखों में आत्म-सम्मान की ज्योति थी, दिल में स्वर्गीय आनन्द का सागर लहरें मारता था। पहले आत्मा को प्रकृति ने पछाड़ा था, अब प्रकृति पर आत्मा ने विजय पाई। इन्द्रनाथ में वही सन्तोष था, वही त्याग, वही वैराग्य, जो सन्यासियों की सम्पत्ति है, जिसके लिए योगी जङ्गलों में भटकते

फिरते हैं। घर पहुँचे तब ऐसे प्रसन्न थे, जैसे कुबेर का धन पा गये हों। मनोरमा बोली—मालूम होता है, काम बन गया।

इन्द्रनाथ—आशा से भी अधिक।

मनोरमा—परमात्मा को धन्यवाद है कि उसने हमारी सुन ली। क्या महीना तय हुआ?

इन्द्रनाथ—कुछ न पूछो। इस समय मेरा दिल बस में नहीं है।

मनोरमा—अरे, तो क्या मुझे भी न बताओगे?

इन्द्रनाथ ने मनोरमा को सारी कहानी सुना दी, और अन्त में कहा—मनोरमा! मुझे नौकरी नहीं मिली, पर आत्म-ज्ञान मिल गया है। मेरे ज्ञान-चक्षु खुल गये हैं। मैं अपने आप को भूला हुआ था, आज मेरे हृदय-पट से परदा उठ गया है मुझे मालूम हो गया है, कवि की पदवी कितनी महान्, कैसी उच्च है? वह दिलों के सिंहासन पर राज्य करती है, वह सोती हुई जाति को जगाती है, वह मरे हुए देश में नवजीवन का सञ्चार करती है। दुनिया अपने लिए जाती है और अपने लिए मरती है, मगर कवि का सारा जीवन उपकार का जीवन है। वह गिरे हुए उत्साह को उठाता है, रोती हुई आँखों के आँसू पोंछता है, और निराशावादियों के सम्मुख आशा का दिव्यदीपक रोशन करता है। दुनिया के लोग उत्पन्न होते हैं और मर जाते हैं, पर ऐसे जाति-निर्माता सदा जिन्दा रहते है, उन्हें कभी मौत नहीं आती। मैंने नौकरी नहीं ली, यह अमर जीवन ले लिया है। मनोरमा! मेरा हाथ थामो, मेरी सहायता करो। इसमें सन्देह नहीं, तुम्हें कष्ट होगा, पर इसके बदले में जो आत्मिक आनन्द, जो सच्चा सुख, प्राप्त होगा उसका मोल कौन समझ सकता है?

मनोरमा ने श्रद्धा-भाव से अपने पति की ओर देखा, और प्रेम से भुजायें फैला दीं।

चम्पी की बिबिया

(लेखक—गिरिजाकुमार घोष)

मैं अपनी गुरुआइन जी को बहुत चाहती थी। पर वह कभी कभी नटखटी करने लगतीं। मैं छुट्टी माँगती तो मुझे नहीं जाने देतीं। उस दिन मैंने कहा, "गुरुआइन जी, आज मोती चाचा आवेंगे, तुम तो बहुत देर लगा रही हो। हमें जाने नहीं देतीं।"

गुरुआइन जी बोली, "चम्पी, जल्दी क्यों मचाती है? तेरे चाचा भागे थोड़े ही जाते हैं। तूने एक खबर और भी सुनी है? तेरे चाचा अब क़ानून बनावेंगे। वह कौंसिल के मेम्बर हो हो गये हैं।

मैंने पूछा, "कानून कैसे बनता है?"

गुरुआइन बोली—"कानून न बने होते तो चोर चोरी करके सब कुछ लूट ले जाते। कानून बन गया है इसीसे वे चोरी करते हैं तो पकड़ लिए जाते हैं।"

"और कैसा कानून?"

"कोई तुम्हें रास्ते में पकड़ न ले, मार न बैठे?"

"अरे मैं समझ गयी। अच्छा मैं भी कानून बनवाऊँगी। मुझे कई कानून बनवाने हैं।"

जब मैं नीचे आयी, देखा मोती चाचा बैठे हैं। मुझे देखकर वह मेरी ओर झुके और मैं कूद कर उनकी गोद में आ बैठी। मेरे मोती चाचा बड़े अच्छे हैं।

मैंने कहा, "चाचा जी, तुम कानून बनाओगे ? बहुत अच्छा हुआ। मेरे लिए भी एक कानून बना दो।"

चाचा हँसने लगे और बोले, "अच्छा चम्पी, ऐसा ही होगा। तुम कौन सा कानून बनवाना चाहती हो ?"

"अरे चोर, उठाईगीरों वाला नहीं। मैं चाहती हूँ कि खिलौने मँहगे न बेचने पावें। एक पैसे में एक बड़ी सी बिबिया आ जावे। चाचा, तुम बिबियों को सस्ती करा दोगे ? तुम कानून कैसे बनाते हो ?"

"कानून बनाने में बड़ी दिक्क़त होती है। सहज काम नहीं है। पहले तुम को एक बिल बनाना होगा ?"

"बिल कैसा ? बिल में तो चूहे रहते हैं ?

चाचा हँस कर बोले, "वह बिल नहीं। उसे काग़ज़ पर लिखना होता है।"

"तो मैं काग़ज़ पर लिख दूँ ?"

"हाँ, हाँ, फिर उस पर बहुत से लोगों के दस्तखत लेने होंगे। तब वह पेश होगा। और जब सब मेम्बर उसे मान लेंगे, तब कहीं वह बिल मंजूर होगा। तब कानून बन सकता है।"

"अरे इतना खटराग ? अच्छा, बिल तो मैं लिख दूँगी। बाक़ी सब काम तुम करा लेना।"

"बहुत अच्छा, चम्पी।"

"कानून बनाने में इतना बखेड़ा क्यों होता है ? मैं तो लिखना जानती हूँ। चाचा जी, कल फिर आओगे न ?"

"क्या मालूम ? शायद अभी जाऊँ !"

इतने में वहाँ पर चन्द्रकला आगयी। चन्द्रकला को देखते ही

चाचा जी कुछ चौंक से पड़े। बड़ी देर तक उसे देखने लगे। वह भी चाचा को देख कर सिटपिटा सी गयी।

चाचा ने अम्मा से पूछा, "यह कौन है ?"

अम्मा बोली, "अरे अभी से तुम चन्द्रकला को भूल गए ? यह मनोहर लाल जी की बेटी चन्द्रकला है। देहरादून में पढ़ती थी। अभी इन्ट्रेन्स का इमतिहान दिया है। कल ही तो देहली से भाभी के साथ आयी है।"

चाचाजी फिर उसे ध्यान से देखने लगे।

अम्मा ने मुस्करा कर कहा, "चन्द्रकला, तुम तो आपे को बिसुर गई ? बैठती क्यों नहीं ?"

मैंने कहा, "चन्द्रकला मौसी, चन्द्रकला मौसी, तुम इधर आओ। मोती चाचा से तुम्हारी मुलाक़ात करवा दूँ।"

पर उसने मेरी बात न मानी। झटपट आलमारी में से एक किताब ले कर चल खड़ी हुई।

मैंने कहा, "चाचा, चन्द्रकला मौसी तुमसे लजाती हैं!"

अम्मा बोली, "चम्पी, तू बहुत बकबक कर रही है। चुपकी नहीं रहती ?"

मैं रोनी सी हो गई। झटपट बोली, "नहीं अम्मा, मैं ऊधम नहीं मचाऊँगी।"

चाचा उठ खड़े होगये। फिर मेरा मुख चूम कर चले गये। मैंने कहा, "कल आओगे ?" वह बोले, "अच्छा।"

मैं गुरुआनी जी के पास चली गयी। पर वह वहाँ नहीं थी। तब मैंने कागज़, क़लम और दावात उठा ली, और अपना बिल लिख डाला और उसे एक आले में उठा रक्खा।

दूसरे दिन जब मैं फिर नीचे गयी, एक गुड्डे के हाथ में उस काग़ज़ को चिपका कर लेती गयी।

मोती चाचा मुझ से पहले ही आकर बैठे थे। मुझे देखते ही बोल उठे, "चम्पी, तुम मुझे अपना गुड्डा दिखाने लाई हो?"

मैंने कहा, "नहीं, यह मेरा बिल है—वही क़ानून बनाने का बिल।"

चाचा, 'वाह, वाह, कैसी अच्छी बुद्धि लड़ाई है! देखें, देखें! गुड्डे के हाथ में अर्जी है! इसमें क्या लिखा है—'खिलौने सस्ते कर दो—एक पैसे में एक बिबिया।' वाह, वाह!"

मोती चाचा ही जोर से पढ़ने लगे। अर्जी हाथ में लिए हुए गुड्डे को उठा कर सब को दिखाने लगे।

मैंने पूछा, "मोती चाचा, यह बिल अच्छा है न?"

"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। पूरा मतलब निकल आता है। ऐसे क़ानून की तो बड़ी भारी ज़रूरत है।"

मैं ख़ुशी से तालियाँ पीटने लगी। बोली, "तब इसका क़ानून बन जायगा? कब तक बन जायगा? कल या परसों? परसों मुझे एक पैसा मिलेगा।"

"इतनी जल्दी नहीं। अच्छा, इसकी बात मैं और लोगों से भी पूछ लूँगा।"

"चन्द्रकला मौसी से पूँछ लो। वह बहुत अच्छी अच्छी गुड़ियें बनाती हैं।"

मेरी बात सुन कर बाबूजी और अम्मा हँसने लगीं।

बाबूजी ने कहा—"हाँ, हाँ, चन्द्रकला ही से तो पूँछना चाहिये। चम्पी, तू अब यहाँ से जा।"

मैं चन्द्रकला मौसी की बात सोचने लगी। चन्द्रकला मोती चाचा को देख कर इतना लजाती क्यों हैं? और चाचा भी बड़े ध्यान से उसे देखा करते हैं। कुछ बात समझ नहीं आयी। मैंने गुरुआनी से पूछा—'चन्द्रकला मौसी मोती चाचा की कौन लगती हैं? वह उन्हें देखकर खिटपिटाने क्यों लगती हैं? मोती चाचा तो उसे बड़े ध्यान से देखते हैं, पर कुछ बोलते नहीं।"

"अरी, तू जीती रह। बोलेंगे क्यों नहीं? हो न हो, दोनों का ब्याह हो जायगा, और चन्द्रकला तब तुम्हारी चाची हो जायगी। वह बहुत अमीर की बेटी है, इसी से तुम्हारे चाचा उससे डरते हैं। पर चन्द्रकला है बहुत ही अच्छी। जैसी पढ़ी-लिखी वैसी ही गुणवती है। दोनों की जोडी बहुत भली लगेगी।',

पर मैं गुरुआइन जी से नाराज़ हो गई। मैंने कहा "मोती चाचा किसी से नहीं डरते। चन्द्रकला मौसी कोई हौआ थोड़े ही हैं?"

गुरुआइन जी कुछ बोली नहीं। उठ कर कुछ काम करने लगीं।

उस दिन तीसरे पहर जब मैं बगीचे में हवा खाने गयी, देखा, सब लोग वहाँ घूम रहे हैं, और मोती चाचा भी आ गये हैं। मोती चाचा चन्द्रकला से कुछ कह रहे थे, और वह और अम्मा खड़ी-खड़ी चाचा की बातें सुन रही थीं। मैं तुरन्त दौड़ कर उनके पास गयी, और चाचा से कहने लगी—"मोती चाचा, देखो मेरे बक्स में दस चवन्नियाँ, दो अठन्नियाँ, पाँच चमकती हुई दुअन्नियाँ, पन्द्रह इकन्नियाँ और सोलह पैसे और तीन धेले हैं। दो धेले तो बिलकुल साफ झकाझक और एक मैला है।"

मोती चाचा बोले, "ओः हो! तुम तो बड़ी अमीर हो। सचमुच, तुमसे तो मुझे डर सा लग रहा है।" सुनते ही मैं

सन्न हो गयी। कुछ रोनी सी होगयी। मुझे बहुत दुख हुआ। मैं बोली, " तब गुरुआनी जी का कहना सच निकला। वह कहती हैं कि तुम बड़े डरपोक हो ?"

तब तो मोती चाचा सन्न होगये। चुपचाप मेरी ओर तकने लगे। बोले "तुह्मारी गुरुआनी ने ऐसा कहा ?"

मैंने कहा, "हाँ, बात एक ही है। वह कह रही थीं कि तुम चन्द्रकला मौसी से डरा करते हो। मौसी भी तो बड़ी अमीर है न, इसी से तुम उससे डरते हो।"

चाचाजी का चेहरा फीका सफेद सा होगया, घबरा कर बोले—'तो मैं डरपोक कैसे हुआ" ?

मैंने कहा—'मैं तो ऐसा ही समझती हूँ। मोती चाचा, तुम डरते क्यों हो ? तुम मौसी से जी खोल कर बोला करो। वह अमीर हुई तो क्या हुआ ! मैं भी तो अमीर हूँ। चन्द्रकला मौसी, तुम मोती चाचा को डरपोक तो नहीं समझतीं ?"

चन्द्रकला बोली, " नहीं, नहीं, मैं ऐसा क्यों समझने लगी ?"

चाचा बोले "हाँ, बात तो सच है। कुछ कुछ तो मैं जरूर डरता हूँ। चम्पी ठीक कह रही है।"

मौसी ने झट से सिर नीचा कर लिया। अम्मा बोली, ' हट, चिबल्ली। कहाँ की राम-कहानी ले आई ?"

मैंने कहा—"नहीं अम्मा, तुम नहीं जानतीं ? चाचा जी मौसी से ब्याह करना चाहते हैं। पर उनको डर लगता है।"

अम्मा बड़े जोर से हँसने लगी।

मैंने कहा, "मोती चाचा, तुम डरो मत। तुह्मारा ब्याह करा दूँगी। देखो चन्द्रकला मौसी हौआ नहीं है जो तुमको खा लेगी। दोनों की जोड़ी बहुत अच्छी लगेगी।"

अम्मा फिर ज़ोर से हँसने लगी।

चन्द्रकला घबरा कर वहाँ से भाग चली।

चाचा ने झट से मुझे गोद में उठा कर मेरा मुख चूम लिया।

मैंने पूछा, "मौसी भाग क्यों चलीं?"

चाचा बोले, "देखो मैं उनसे नहीं डरता, वही मुझ से डरती हैं।"

मैंने कहा, "अच्छा तो मैं उसे समझा दूँगी। पर मोती चाचा, चन्द्रकला मौसी से तुम्हारा ब्याह हो जायगा तो मैं उसे चाची कहूँगी न?"

चाचा जी भी हँसने लगे।

बाबू जी को उधर ही आते ही देख कर अम्मा हँसती हँसती उनके पास दौड़ी।

बाबू जी ने चाचा के पास आकर उनका हाथ पकड़ कर कहा, "मुबारकबाद! चलो, चम्पी ने तुम दोनों का ब्याह करा दिया। मैं चन्द्रकला के पिता को अभी तार भेजता हूँ।"

तार गया। फिर मौसी देहली चली गयी। जाती बेर उसने मेरे दोनों गाल चूम चूम कर लाल कर दिये। कुछ दिनों पीछे सचमुच मोती चाचा और चन्द्रकला मौसी का ब्याह हो गया। दोनों ने मुझे दो बहुत बड़े बड़े गुड्डे दिये। दोनों के दोनों आँखें मटका मटका के हँसा करते हैं। पेट दबा दो तो टें टें करके रो भी देते हैं।

मौसी को मैं अब चाची कहा करती हूँ।

विवाह

(लेखक—ज्वालादत्त शर्मा)

अंगनलाल सकसेना बी० ए० का विद्यार्थी है। ऐट्रेंस से ही उसने संस्कृत ले रक्खी है। अंगरेजी और संस्कृत के मिश्र शिक्षण ने उसका हृदय बहुत कुछ उन्नत कर दिया है। माता-पिता से उसने जो स्वभाव प्राप्त किया था वह अब बहुत कुछ बदल गया है। शिक्षा की बारीक छलनी में छन कर उसकी क्रूरता और निर्दयता वीरता और नम्रता के रूप में परिणत होगई है। वह बचपन की अपनी बातों को याद करके अब दुखी हुआ करता है। उसने अपने क्रूरस्वभाव के कारण बचपन में अनेक उत्पात किये थे। घसियारों की घास के गठ्ठर और कहारियों के भरे हुये घड़े उसने एक बार नहीं, अनेक बार, गिराये और फोड़े थे। एक बार उसने ईख के रसपूर्ण घड़े पर भी ईंट-पात किया था। स्नान करते हुए ग्रामीणों को देख कर वह मन भर के हँसा था। कालेज के विद्युद्दीप-दीप्त होस्टल के कमरे में अङ्गनलाल प्रसंगवश जब कभी रात को अपने बाल्यकाल की कठोर क्रीड़ाओं का चिन्तन करता तब सचमुच उसका संस्कृत मन दुःख और पश्चात्ताप से भर जाता था। जिन गरीबों को उसने अकारण तंग किया था उनके लिए उसके हृदय में सहानुभूति का गहरा भाव पैदा हो जाता था। किन्तु वह घर की बूढ़ी कहारी के सिवा अब किसी को न जानता-पहचानता था, जो उनके पास जाकर अपने अपराध को क्षमा कराता और उनकी क्षति पूर्ण कर देता। बूढ़ी कहारी को, जब वह घर जाता था, एक रुपया दे आता था। बूढ़ी समझती थी कि लड़का मेरी सेवा से प्रसन्न होकर मुझे इनाम

देता है; किन्तु अंगन बाबू अपने कृत कर्म का प्रायश्चित्त करके अपने मन को थोड़ा बहुत हलका करता था।

बड़े दिन की छुट्टियो से वापिस आने के एक सप्ताह बाद ही उसे पिता, मुन्शी मोतीलाल, का पत्र मिला। पत्र सदा की तरह खूब लम्बा था। मटीले कागज के कोई दो वर्क रँगे हुये थे। पत्र की नाप का लिफाफा न मिलने के कारण बूढे मुंशी ने उसी कागज को मोड कर उसे लिफाफे का रूप प्रदान कर दिया था। अंगनलाल किसी के सामने पिता का पत्र न पढ़ता था। कालेज के संक्षेपता-प्रिय लड़के "बृहन्निघण्टु" के उस बड़े नुसखे को देख कर जरूर हँसेंगे-यह उसकी पक्की और सच्ची धारणा थी। इसी लिये रात्रि को, भोजनोपरान्त, कमरे के किवाड़ बन्द करके, उसने मुंशी मोतीलाल का पत्र 'सोलह आने' खोला। आरम्भ की पाँच पंक्तियों में "बरखुरदार नूरचश्म" पुरस्सर अनेक आशीर्वादात्मक वचनों की सृष्टि सदा की तरह की गई थी। इन शब्दों को कार्ड में भी लिखना वे न भूलते थे। उन्हें लिखते लिखते उनकी आँखें प्रायः आर्द्र हो जाती थीं। उनमे दिए गये प्रति आशीर्वाद को वे अवश्य फलप्रद समझते थे। प्राचीन ढर्रे के बचे हुए पिता जिस तरह इन आशीर्वादात्मक वाक्यों को लिखना न भूलते थे नव्य तंत्र का शिक्षित पुत्र उन्हें पढ़ने का कष्ट कभी स्वीकार न करता था। पर इससे क्या? नीचे की कुछ पंक्तियाँ तो उसे पढ़नी ही पड़ती थीं। घरेलू वृत्त को चतुर मुंशी शब्दाडम्बर के गहन वन में इस तरह छिपा देते थे कि बिना सारा पत्र पढ़े मतलब समझना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य था। मदनलाल ने पिता के दीर्घकाय पत्र का जो सार समझा, हम उसी को अपने शब्दों में नीचे लिखते हैं-

'बेटा, तुम्हारी जिया (माता) अब तुम्हारी दुल्हन को देखने के लिए बहुत आतुर हो रही है। वह रोज मेरे कान खाती और

कहती है कि कहीं बहू का मुँह देखे और लगून का जोड़ा पहने बिना ही मैं न चल बसूँ। भाई मैं तो जानता हूँ कि तुम बी० ए० पास करके विवाह करना चाहते हो। पर इसमे अभी दो वर्ष हैं। और, तुम्हारी ज़िया तो रोज़, अब मरी अब मरी, कह कर मुझे मारे डालती है। भाई, मैं बूढ़ा हूँ। यह दूसरी बात है कि 'ईश्वर के करम से" जवानों से अच्छा हूँ, पर फिर भी पका हुआ आम हूँ। मौलूम नहीं किस समय चू पड़ूँ। इन सब बातों को सोच कर मैंने तुम्हारा विवाह मुहल्ले के मुन्शी हरगोपाल की लड़की चुन्नी के साथ करना तय किया है। लड़की तुम्हारे साथ की खेली है। इसलिए उसके विषय में अधिक लिखने की जरूरत नहीं। अब रहा दहेज; सो उसके लिए मैंने लालाजी को खूब कस लिया है। वैसे तो बड़े रईस की दुम बनते थे, पर "ठहरावे" के समय लाला साहब बैल की तरह कंधा डाल गए। बड़ी मुशकिलों से १५००) की शादी करने पर राजी हुए हैं। मैं जानता हूँ, तुम अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ठहरावे को बुरा समझते हो। पर यह तुम्हारी भूल है। बड़ी अच्छी रसम है। नहीं तो हमारे पुरखा क्या बेवकूफ थे जो ये रसमें बाँध गए है। तुम अभी इन बातों को क्या समझो? अरे भाई! वे तो ५००) की शादी से चले थे। जब मैंने उनके ये ढँग देखे तब मैंने भी साफ़ साफ़ कह दिया कि मेरा लड़का दस हजार को भी सस्ता है। चलो हवा खाओ। यह सुनकर तो उन्हें दिन में तारे दिखलाई दे गये। तब कहीं लाला साहब १५००) की शादी करने पर तैयार हुए हैं। भैय्या, लोग बड़े दूकानदार हैं। अब तुम मेरी और अपनी माँ की बात को मानकर और मेरे बुढ़ापे पर तरस खाकर शादी को मंजूर करलो। आजकल की बातें हैं कि पिता पुत्र से पूछ कर ब्याह पक्का करता है; नहीं तो हमारे "वालिद माजिद" ने तो हमसे जिक्र तक भी न किया था। और, करते भी कैसे? उस समय हमारी, "ईश्वर रक्खे,"

कोई आठ साल की उम्र थी। खैर, मैं यह जानता हूँ कि तुम चाहे बी० ए० में पढ़ो चाहे पी० ए० में, किन्तु हो " लायक बाप के बेटे।"

मुन्शी मोतीलाल ने बैंजनी स्याही से मटीले कागज के पूरे दो तख्ते लिखकर अन्त में पत्र को इस तरह समाप्त किया था—

'लिखने को अभी बहुत बातें हैं। किन्तु आज मुझे कचहरी में एक जरूरी काम के लिए जाना है। इसलिए अब इसे यहीं समाप्त करता हूँ।"

पत्र को पढ़कर अङ्कनलाल के मन में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे। चुन्नी के लावण्यमय चेहरे का उदय उसमें बार-बार होने लगा। वह अनिन्द्य सुन्दर चन्द्रमुख पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करने की जबर्दस्त सिफारिश उससे करने लगा। शिक्षित पुत्र इन विवाह को स्वीकार करके अपने हिसाब माता पिता के आज्ञापालन और नैतिक पुण्य प्राप्त करने का प्रपञ्च रच रहा था, किन्तु उसके मन के अन्तस्तल में चुन्नी के देवता दुर्लभ रूप का ही लोभ विशेष था।

पिता के पत्र का संक्षिप्त उत्तर लिख कर अङ्कनलाल ने निद्रा-देवी की गोद में आश्रय ग्रहण किया।

(२)

बरेली के बिहारीपुर मुहल्ले में खूब धूम धाम है। मुन्शी मोतीलाल का मकान मिहमानों से भर रहा है। स्त्री-पुरुष के झुण्ड आ रहे हैं। एक ओर दावत का विराट् आयोजन है; दूसरी ओर रण्डियों के नाच का पूरा प्रबन्ध है। शिक्षित पुत्र इन सब कामों को देख कर मन ही मन घुट रहा है, किन्तु पिता को इन अनर्थपूर्ण कामों से रोकने का उसमें साहस या दुस्साहस नहीं है।

मुन्शी शिवदयाल, जो मुन्शी मोतीलाल के अभिन्न मित्र हैं, मद्य के नशे में मस्त हो रहे हैं। वे प्रबन्ध करने के बहाने प्रबन्ध की जी खोलकर मिट्टी पलीद कर रहे हैं। मुन्शी मोतीलाल को सामने से आता हुआ देख कर मुन्शी शिवदयाल पारे की तरह बिखर गये और बोले—"सुना है, समधी ने लगुन में ३००) भेजे हैं और हम यहाँ उसके इन्तजार में चार सौ की पी गये। हा! हा! भतीजे का ब्याह है!" यह कह कर उन्होंने शराबीजन-सुलभ एक विशेष मुद्रा का प्रकाश किया, जिसे देख कर बालक हँसने लगे और जवानों ने मुँह नीचे को कर लिया।

दूसरी ओर एक और बूढ़े मुन्शी खड़े हुये थिरक रहे थे। लड़कों की तालियाँ सुनकर वे, सफल व्याख्याता की तरह, घूम-घूम कर भाव बता रहे थे। इस ताण्डव-काण्ड को देख कर अक्षनलाल के रोमाञ्च हो आये। उसने समझा कि विवाह का निर्विघ्न समाप्त होना मुश्किल है। जहाँ पिता जैसे दरियानोश और मुन्शी शिवदयाल जैसे चुल्लू में उल्लू होने वाले बराती मौजूद हों वहाँ जो उत्पात न हो जाय, थोड़ा है।

रात भर नाच होता रहा। मद्य की गन्ध से मँगनई की दरी, क़ालीन और चाँदनियाँ सभी बस गईं।

मकान में अपनी सच्ची सहधर्मिणी से मुन्शी मोतीलाल ने कहा—देखो लड़के ने कैसा जोड़ा भेजा है! मैंने इसीलिए तो उसे कसा था। जोड़े में कसर कर गया। खत में लिखा है कि जोड़ा ६५।=)३ पाई की लागत का है। वाह! हमारे यहाँ की कहारियाँ ऐसे जोड़े पहनती हैं।

मुन्शान जी ने प्याले की पूर्णाहुति करते हुए कहा—मेरे जी में तो आया था कि उस बारहताली (समधन) के यहाँ जाकर उससे

दो दो हाथ कर आऊँ। लेकिन अपनी ओर देख कर चुप हो रही। लड़की का ब्याह करने चली है या झींकने!

इसी तरह के भिन्न भिन्न स्तोत्रों से समधी-समधिन लड़की के माता-पिता के गुणगान करने लगे। बेचारा अञ्जन उस समय हर्बर्ट स्पेन्सर का समाज-शास्त्र पढ़ रहा था। किन्तु अपने घर की सामाजिक दशा का जीवन्त चित्र देखकर वह उसे अधिक न पढ़ सका। उसके विवाह में अब भी इक्कीस दिन की देर थी।

(३)

मुन्शी हरगोपाल साधारण प्रकृति के आदमी थे। पिता जो कुछ थोड़ा-बहुत छोड़ गए थे उसी से वे अपना निर्वाह करते थे। रहने का मकान और छोटी सी एक मिलकियत थी। उसी में सीर करा कर मुन्शी हरगोपाल साल भर का अन्न प्राप्त कर लेते थे। मोटे लेन-देन और खँडसाल से भी उन्हें खासी प्राप्ति हो जाती थी। इसी तरह वे बड़ी युक्ति से, पर प्रतिष्ठा के साथ, अपना काम चलाते थे। उनके एक लड़का और एक लड़की-चुन्नी थी। चुन्नी का भाई रघुवर एम० ए० के प्रथम वर्ष में पढ़ता था। विवेकी पिता ने अपनी आमदनी का अधिक भाग होनहार पुत्र की पढ़ाई में खर्च किया था। यद्यपि मुन्शी हरगोपाल टेम्परेन्स-सोसाइटी या कायस्थ कान्फ्रेंस के किसी अधिवेशन में भी सम्मिलित नहीं हुए थे, किन्तु फिर भी शराब को मुँह न लगाते थे।

अञ्जनलाल पर शुरू से उनकी नजर थी। किन्तु उसके माता पिता से उन्हें डर लगता था। लड़के की योग्यता देख कर वे जरूर चाहते थे कि अपनी लड़की का विवाह उसके साथ करें। सब कुछ सोच विचार कर उन्होंने बात चलाई। जैसा सोचते थे वैसा ही जवाब मिला। ४०००) तलब हुए। मुन्शी जी का सब कुछ बिक कर भी मुश्किल से इतना रुपया इकट्ठा हो सकता था।

उनके विभिन्न कामों को देख कर लोग उन्हें जरूर मालदार समझते थे; किन्तु वे अपनी श्रमलब्ध आय से प्रतिष्ठा के साथ अपना काम चलाए जाते थे। मुहल्ले के दो-चार भले आदमियों को बीच में डाल कर उन्होंने मामले को पक्का किया। भाव-ताव होने लगे। मुन्शी मोतीलाल ने उसी दिन से मद्य की मात्रा सवाई कर दी। आख़िर को १५००) पर जाकर लड़के का सौदा हुआ। क़रीब एक हज़ार के उनके पास था। बाक़ी रुपये के लिये उन्होंने क़र्ज की व्यवस्था की। उनके एक ही लड़की थी। इसलिये उन्होंने सोचा कि लड़की की भलाई के लिए अपनी कुछ दिनों की तकलीफ का विचार न करना चाहिए। क़र्ज के लिए बात-चीत हो गई। कागज ख़रीद लिया गया। एक-दो रोज़ में रुपया मिल जाता कि इतने ही में लग्न भेजकर वृद्ध हरगोपाल मस्तिष्क-ज्वर से पीड़ित हो गए। चार दिन तक होश न हुआ। मुहल्ले में ही समधियाना था। मुंशी मोतीलाल भी देखने आये। इस समय भी हरगोपाल बेहोश थे। अज्ञनलाल ने पहले तो वहाँ जाने में सकोच किया। किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि मुन्शी हरगोपाल का हाल बुरा है तब वह तत्काल वहाँ पहुँचा। उस समय उसे ध्यान भी न रहा कि वह सुसराल जा रहा है। मकान में जाते ही उसने सदा की तरह चुन्नी को पुकारा। चुन्नी बेहोश पिता के मुँह में जल डाल रही थी। उसने जवाब तो कुछ न दिया; एक गम्भीर, पर कातर, दृष्टि से उसे देख भर लिया। उस दुःखभरी सुकोमल दृष्टि में कितनी तीक्ष्णता थी, कितनी वेदना थी—अज्ञनलाल अनुभव करने लगा। माँ ने आकर लड़की को अन्दर भेज दिया। अज्ञन-लाल बहुत देर तक बैठा रहा। हाल पूछता रहा। वह चुन्नी की माँ को चाची कहा करता था। उसने कहा—चाची जी, आप कहें

तो मैं रात को यहीं रह जाऊँ। आप किसी तरह का संकोच न कीजियेगा। किन्तु चुन्नी की माता ने उसे रोकने की आवश्यकता न समझी।

दूसरे दिन मुहल्ले के सब आदमियों ने बड़े दुःख से सुना कि मुन्शी हरगोपाल का देहावसान हो गया।

(४)

मुन्शी मोतीलाल की छोटी सी बैठक में उनके मित्र मुन्शी शिवदयाल बैठे हुये हैं। रात्रि का समय है। यथामिलितोपचार से भगवती वारुणी का आवाहन हो रहा है। दोनों मित्र मौज में खा पी रहे हैं। बातें हो रही हैं। मुंशी शिवदयाल ने चुस्की भरते हुये पूछा—भाई हुआ बुरा, लड़की का नसीब!

मुन्शी मोतीलाल ने कहा—भाई, मौत में किसका इजारा है। पर तुमने और भी सुना! वह बेवा कुछ रङ्ग बदल रही है। कहती है, कर्ज लेकर शादी करना चाहते थे। अब कर्ज मिलता नहीं। कहाँ से रुपया आवे। अब तुम्हारे हाथ ही लाज है। कहो भाई, शिवदयाल, तुम्हें भी यकीन होता है कि उस कञ्जूस को रुपया क़र्ज लेने की जरूरत थी। हमने कभी उसे खाते पीते नहीं देखा, कभी होली-दिवाली पर, तुम्हीं कहो, वह एक बूँद शराब पिलाता तो क्या, पीता भी था!

"राम! राम!! वह तो ऐसा कमबख़्त था कि न पिये था न पिलावे था। हमें तो इस बात का रत्ती भर यक़ीन नहीं होता।"

"मैं भी इन धोखे की बातों में आनेवाला नहीं।"

इसी समय द्वार खुला और मुहल्ले के दो भले मानसों ने प्रवेश किया। मुन्शी मोतीलाल ने बड़ी आव-भगत से उन्हें लिया

और स्वागत के तौर पर मद्य का पात्र उनके सामने उपस्थित किया। उन्होंने बड़ी नम्रता से निषेध किया और कहा—

"इस समय हम आपकी सेवा में इसलिये उपस्थित हुये हैं कि कल, जैसा कि आपको मालूम है, लाला हरगोपाल जी के यहाँ शुद्धि आदि तो होगई। अब भी विवाह में सात दिन बाक़ी हैं। आप की आज्ञा हो तो इसी मिति पर, नहीं १०-१२ दिन बाद किसी शुभ मुहूर्त्त में यह काम होजाना चाहिए। अब बेवा की इज्जत आपके ही हाथ में है। वहाँ लड़की और गङ्गाजल के सिवा अब और कुछ नहीं है।"

मुन्शी मोतीलाल ने कबाब के टुकड़े को चबाकर निगलने की सुविधा न देख वैसे ही कण्ठ के नीचे उतारते हुये कहा—भाई, इन बातों को रहने दो। उससे कह दो, शादी चाहे छः महीने बाद करदे; किन्तु "करार-दाद" का जो रुपया बाक़ी है वह उसे देना ही होगा। नहीं, दूसरा लड़का तजवीज करलें। भाई शिवदयाल, तुम्हें मालूम ही है कि नन्हें को कैसे कैसे ऊँचे घरानों से सगाई आती थी। और, अब भी क्या बिगड़ा है। उन्हें लड़के बहुत, हमें लड़कियाँ बहुत। यह कहते कहते मुन्शी मोतीलाल ने मद्य का आधा ग्लास एक ही घूँट में पी डाला!

इस वीभत्स काण्ड को देख कर और ऊपर लिखी अमानुषिक बातों को सुन कर उन दोनों सज्जनों को अपनी सफलता में भारी सदेह हो गया। किन्तु उन्होंने फिर एक बार कुछ कहना चाहा था कि मुन्शी मोतीलाल ने बड़ी तेजी से जवाब दिया—"महाशय, आप मुझे बेवकूफ न बनाइये। मैं समझ गया। कल प्रातःकाल उसका सब सामान, जो लग्न में आया है, अपना ख़र्च काट कर, आप लोगों के सामने उसके हवाले कर दूँगा। बस ज़ियादह बकझक से कुछ फायदा नहीं।"

दोनों भलेमानस ठण्डी साँस भर कर वहाँ से उठ आये।

(५)

"चुन्नी।"

"हाँ नन्हें जी—" उसकी जबान से भी एक साथ निकल गया। भावावेश में मानसिक व्यापार का अस्त-व्यस्त होजाना नितान्त स्वाभाविक बात है।

अङ्गनलाल ने अन्दर जाकर अपनी सास से कहा—विवाह अभी होगा। ठीक-ठाक कीजिये। बाहर वे दोनों भद्र पुरुष बैठे हैं। वे इसी समय विवाह होजाना उचित समझते हैं। मुझ से अब तक पिता जी ने कुछ नहीं कहा है। यदि कुछ कह दिया तो मैं बड़ी दुविधा में पड़ जाऊँगा। लग्न वापिस होने पर बड़ी दिक्क़त होजायगी। आप विलम्ब न करें। मुहल्ले के प्रतिष्ठित आदमी अभी एक घण्टे में एकत्र हुये जाते हैं।

विधवा पहले तो कुछ न समझी। किन्तु थोड़ी देर ही में, एक एक करके, सभी बातें उसके शोकाकुल दिमाग में बैठ गईं।

दो घण्टे के अन्दर ही घर का नक़शा बदल गया। जो घर दीर्घ-निश्वासों और करुण-रोदन से, कुछ समय पहले, शोक की मूर्त्ति बना हुआ था, वह अब वैवाहिक मन्त्रों की मधुर ध्वनि में पूरित हो गया। पाणिग्रहण के समय अङ्गनलाल ने जब चुन्नी का काँपता हुआ हाथ पकड़ा तब उसे एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव हुआ। उसने बचपन से अनेक बार उस हाथ को पकड़ा था, किन्तु उसमें वैसी उष्णता, वैसी कृतज्ञता की अनुभूति, और वैसा अनिर्वचनीय भाव इससे पहले कभी उसे अनुभूत न हुआ था।

प्रातःकाल ८ः बजे जब पुत्र को स्थान पर न पाकर पिता

मोतीलाल क्रोध में भरे हुए और लग्न के सामान की गठरी बग़ल में मारे, अपने मित्र शिवदयाल के साथ, विधवा के मकान पर आए तब प्रातःकाल की मंद समीर में मिले हुए पूत यज्ञ-धूम की मनोहर सुगन्ध से उनके द्वेषपूर्ण मन को जरूर कुछ शान्ति प्राप्त हुई। मुन्शी मोतीलाल जानते थे कि अञ्जनलाल जरूर अपनी शीघ्र टूटने वाली ससुराल गया होगा, और कहीं विधवा उसे अपने वाग्जाल में न फाँस ले, इसी भय से वे इस सम्बन्ध को विच्छिन्न करने के लिए, मित्र को लेकर यथा-सम्भव शीघ्र आये थे। बाहर बैठे आदमी से उन्होंने साधारणतया पूछा—नन्हे कहाँ है ?

भोले नौकर ने भी साधारणतया उत्तर देदिया-अभी अन्दर ही हैं। आप भी जा सकते हैं। चुन्नी का हाथ पकड़े हुए जभी अञ्जनलाल विवाह की वेदी से उठा कि पिता के दर्शन हुए। पिता जी जो कुछ देख रहे थे उसे वेदान्तियों की माया की तरह अनिर्वचनीय समझते थे—न सच समझते थे न झूठ। चित्रवत् खड़े वे इस शान्त दृश्य को देख रहे थे। अञ्जनलाल ने अपनी वधू से कहा—"चुन्नी, पिता जी के चरण छुओ; इन्हीं चरणों की सेवा के लिए मैंने आज तुम्हारा पाणिग्रहण किया है।"

जिस समय वधू विद्यावती, उर्फ़ चुन्नी, ने ससुर के चरण स्पर्श किये उस समय कठोर मोतीलाल का पाषाण-हृदय भी द्रवीभूत होगया। वधू के सौभाग्य पूर्ण चेहरे को देखकर, या पुत्र के धर्मयुक्त साहस और उसकी सहृदयता को देखकर, या पुत्र-विवाह के प्राकृतिक हर्ष से आत्मविस्मृत होकर, उन्होने चुन्नी बहू के सिर पर हाथ रखकर कहा—प्यारी बेटी, सौभाग्यवती हो।

लग्न के सामान की गठरी को बग़ल में दबाए ठण्डे पाँव

वापिस आकर जब उन्होंने नन्हे की माँ से कहा—सुनती हो, तुम्हारे नन्हे का व्याह हो गया, तैयारी करो, बहू आती है—उस समय सचमुच बूढ़े के चेहरे पर कठोरता या नीचता के भाव का निशान नाम को भी न था। उसका झुर्री-पड़ा चेहरा पुत्र की सहृदयता और वधू की सौभाग्य-शालीनता से अभिभूत हो कर एक स्वर्गीय भाव मे आलोकित हो रहा था।

शान्ति-निकेतन

(लेखक—हृदयेश)

(१)

पारिजात-निकुंज में स्फटिक-शिला पर बैठी हुई हास्य-मुखी कल्पना ने विषाद-वदना चिन्ता के चिबुक को कर-कमल से उठा-कर कहा—"बहन! चलो; इस चन्द्रिका-धौत गगन-मंडल में विहार करें।" चिन्ता ने अन्यमना होकर उत्तर दिया—"ना बहन! मुझे इस कुंज की सघन छाया ही में विश्राम मिलता है।"

कल्पना ने अभिमान में भर कर लोचन अश्रुपूर्ण करके कहा—"बैठो बहन! मैं तो इस विस्तृत ब्रह्माण्ड के प्रत्येक धाम का निरीक्षण करूँगी।" चिन्ता को चिंता-निमग्न छोड़कर कल्पना चंद्रिका-चर्चित नभः-प्रदेश में विहार करने के लिए चली गई।

कल्पना के कलित कलेवर में शीतल समीर ने सुरभित सुमनसमूह का पराग लेकर अङ्गराग लगाया, चंद्रिका ने हँसकर सुधास्नान कराया, अम्बर ने नीलांबर पहनाया, तारकावली ने हीरकहार पहनाया, स्वर्ग-मंदाकिनी ने कर-कमल में कांचन-कमल का उपहार दिया। इस प्रकार सुसज्जित होकर, सर्वत्र-गामी मनोरथ पर आरूढ़ होकर, कल्पना कनकराज्य में विचरण करने के लिये निकली। और चिन्ता? विषाद-वदना चिन्ता उसी पारि-जात-कानन के स्निग्ध छाया-मय निकुंज में बैठकर किसी की चिन्ता करने लगी।

निद्राभिभूत चंद्रशेखर कल्पना के रथ की गति को देखने लगे।

देखते देखते मनोरथ दृष्टि-पथ मे अंतर्हित हो गया। चन्द्रशेखर व्याकुल होकर कल्पना के लिए पुकारने लगे। उनकी आँख खुल गई स्वप्न की स्निग्ध आभा चैतन्य के अत्युज्ज्वल आलोक में विलीन होगई।

प्रातःकाल का शीतल पवन ललित लताओं को आलिंगन करता हुआ बह रहा था, कनक कुञ्ज में बैठकर कलित-कण्ठ कोकिला कोमल कुसुम को जगाने के लिए प्रभाती गा रही थी; यामिनी ऊषा को अपना राज्य देकर सघन वन की अंधकार-मयी छाया में तप करने के लिए जारही थी।

कल्पना चिता को निकुञ्ज में परित्याग करके स्वयं संसार में परिभ्रमण कर रही थी।

चंद्रशेखर ने देखा—आश्चर्य और आल्हाद के अपूर्व सम्मिश्रण में, स्वप्न और सत्य के सुवर्णराज्य में ध्यान और ध्येय के विचित्र सम्मिलन में, अभिलाषा और पूर्ति की अनोखी संधि में; देखा, कल्पना फूलों के राज्य में बिहार कर रही है।

चन्द्रशेखर ने निकट जाकर पूछा—"कौन ? कल्पना !"

कल्पना ने उत्तर दिया—"मैं कल्पना नहीं, किशोरी हूँ।"

कल्पना की भाँति किशोरी भी उसी क्षण अंतर्हित हो गई। चन्द्रशेखर अनिमेष-लोचन से देखने लगे।

कुतूहल और कल्पना—दोनों सहोदर है।

(२)

यामिनी और ऊषा के अंतिम आलिंगन के समय, स्मृति और प्रत्यक्ष की क्षणिक संधि के अवसर पर, स्वर्ग और संसार के निमेषव्यापी मिलन के मुहूर्त में, स्वप्न और सत्य के चुम्बन-व्यापार के क्षण में चन्द्रशेखर ने किशोरी का कान्त दर्शन प्राप्त किया था।

उस समय विकार का आडम्बर नहीं था; स्निग्ध शान्ति का सुंदर सुराज्य था। चंद्रशेखर ने जो दृश्य देखा वह भूलने योग्य नहीं था। संसार के रंग-मंच पर सौन्दर्य का एक अपूर्व अभिनय था। चंद्रशेखर केवल दर्शक ही नहीं थे, उन्होंने उस अभिनय में भाग भी लिया था। तब भला वह उसे कैसे भूल सकते थे! स्वर्ग से दूर रहकर भी पुण्य-प्रवृत्ति ऊँची उठती है; पङ्क में पतित होकर भी हारक ज्योति अपनी आभा का विस्तार करती है; विपत्ति के अंधकार-गह्वर में भी आत्मा का आलोक दृष्टि-गोचर होता है— तब स्वभाव के सुकुमार बन्धन में बँध कर मनुष्य अपनी कृति की स्मृति को कैसे विस्मृत कर सकता है?

चंद्रशेखर का हृदय किशोरी के नवयौवन-वन में विहार करने लगा। लावण्य मनोहर के विकच इंदीवर-नयन में, प्रफुल्ल गुलाब के सुकोमल पल्लवाधर में, तुषार-कण-सिक्त विकसित कमल-कपोल में, नवदूर्वादल-श्याम रोमराजि में, हिमाचल के कलित कनकशृङ्ग में, चंद्रशेखर का हृदय, तन्मय होकर विहार करने लगा। चंद्रशेखर संसार में रहकर भी कल्पना-कल्प किशोरी की मधुर मूर्ति के साथ स्वर्ग में विहार करने लगे। इस स्वर्ग में समीर था, किन्तु शीतलता नहीं थी; तन्मयता थी, किन्तु आनन्द नहीं था; राग था, किन्तु उतार नहीं था। चन्द्रशेखर प्रणय-पर्वत पर स्थित होकर अचेत होने लगे। कौन जानता था कि उनका पतन स्वर्ग में होगा, अथवा रसातल में? इस सम्बन्ध में क्या चन्द्रशेखर सदुपदेश को सादर ग्रहण करेंगे?

किशोरी किशोरावस्था की सीमा पर पहुँच चुकी थी। यौवन की उद्दाम प्रवृत्ति की रंगभूमि में किशोरी ने प्रथम चरण रक्खा था। यौवन के तीव्र मद की अरुणिमा उसके नयन-कमलों में दृष्टिगोचर होने लगी थी। उसकी गति में भी सुरा का मतवालापन

परिलक्षित होता था। आनन्द-मद से भरी हुई निःश्वास एवं प्रत्येक अंग का विकास खिलती हुई कली के सदृश प्रतीत होता था। कैसा अपरूप लावण्य था! शरत्काल के विमल जल की भाँति दर्पण की स्वच्छता की भाँति, सती के प्रेम की भाँति, उसका समस्त शरीर देदीप्यमान हो रहा था। कमलिनी ने अभी तक बाल रवि के प्रथम किरण-स्पर्श से उत्पन्न होने वाले विद्युत्प्रवाह का अनुभव नहीं किया था; कुमुदिनी ने कलाधर की सुधा-धारा में अवगाहन नहीं किया था। कैसी मनोरम संधि थी? कैसा मृदुल मिलाप था? स्वच्छ सुन्दर गगन में मानो लालिमा की प्रथम रेखा थी, किशोर-कानन में यौवन-वसन्त का मानों प्रथम पद-संचरण था; प्रतिपदा और द्वितीया के सम्मिलित योग में सुधाधर की मानों पहली कला थी; स्वच्छ तुषार के ऊपर मानों बालरवि की प्रथम किरण थी, पकते हुए रसाल के ऊपर प्रकृति की लेखनी से चित्रित की हुई मानों प्रथम अरुण रेखा थी, नन्दन-वन की पारिजात लता का मानो प्रथम विकास था; सौन्दर्य की रंगभूमि पर रति-देवी की मानों पहली तान थी।

परिधान! सुन्दर शरत्काल की यामिनी मानो चन्द्रिका की साड़ी पहिन कर खड़ी हुई थी, गुलाब की अधखिली कली मानों जुही की साड़ी पहिन कर विहार करने आई थी; आदि-कवि की कल्पना मानों वाणी का शुभ्र अम्बर परिधान कर के साहित्य के उपवन में घूम रही थी, आत्मा मानों उज्ज्वल सत्य की साड़ी पहन कर पवित्रता के परम पावन वन में पुष्प-चयन कर रही थी। चन्द्रशेखर इस रूप पर, इस वेश पर बलिहार होगए।

चन्द्रशेखर उपवन में इधर-उधर घूमने लगे। उपवन उसी प्रकार शान्त एवं मनोरम था किंतु चन्द्रशेखर को प्रतीत होता था, मानों

प्रत्यक्ष स्मृति के गर्भ में लोप होगया, ध्वनि प्रति-ध्वनि के गर्भ में लीन होगई, राग मूर्छा के विवर में विलुप्त होगया और राज-राजेश्वरी भगवती कल्याण-सुन्दरी की मृदुल हास्य-ध्वनि निस्त-ब्धता की गभीर गुफा मे अंतर्हित होगई।

(३)

कितने ही दिवस व्यतीत होगये। ऋतुराज का रामराज समाप्त होगया; ग्रीष्म का भीषण साम्राज्य भी अन्तर्हित होगया। उत्तप्त कलेवर पर पीयूष-प्रवाह की भाँति, पश्चात्ताप-दग्ध हृदय पर करुणामय की अजस्र करुणा-धारा की भाँति शाप-संतप्त मानव मानस पर दया की आशीर्वाद-लहरी की भाँति, सूर्य-तप्त पृथ्वी-मण्डल पर नील नीरज-श्याम सघन घन की शीतल वारि-धारा पतित होने लगी। चन्द्रशेखर को स्मृति-दामिनी, भूत-काल के सघन अंधकार को पाकर और तीव्रता से चमकने लगी। घोर अंधकार क मध्य में दामिनी की वह तीव्र ज्योति, स्मृति का वह अक्षय दीपक—किशोरी का वह कल्पनामय कांत कलेवर—चंद्रशेखर को दुःख देकर भी कराल काल की कालिमामय कन्दरा में पतित होने से बचा लेता था।

सुविशाल गंभीर महासागर मे निमग्न होता हुआ नाविक, दूर पर—बहुत दूर पर—पृथ्वी और आकाश की मिलन-सीमा पर उड़ती हुई जलयान की वैजयंती का दर्शन पाकर, जिस प्रकार मृत्यु की भीषण कन्दरा में पतित होने से बचने के लिये चेष्टा करता है, सहस्र सहस्र विपत्तियों के जाल में आबद्ध मानव, दूर पर भविष्य के अंधकारमय गगन में—आशा की कल्पना-मय ज्योति को देख कर जिस प्रकार इस असार संसार पर अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के प्रयत्न में प्रवृत्त होता है, उद्भ्रान्त पथिक निराशा के भयं-कर मरुप्रदेश में, उत्तप्त रेणुका-राशि के मध्य में, दूर पर-बहुत

दूर पर-मरीचिका की मायिक छटा को देख कर, जिस प्रकार अपने प्राणों को इस नश्वर देह में कुछ काल के लिए और भी बंदी रखने का प्रयास करता है, ठीक उसी प्रकार चन्द्रशेखर, किशोरी को—अपने हृदय-साम्राज्य के एकमात्र आधार-स्तंभ को—अपने मानस सरोवर के एकमात्र विकसित सरोज को—अपने प्रणय-पादप के एकमात्र विकच पुष्प को—अपनी जीवन-व्यापिनी यामिनी के एकमात्र उज्ज्वल नक्षत्र को—दूर पर, समाज और धर्म की सीमा के परे, लोक और परलोक के अन्तिम छोर पर, स्वर्ग और संसार की अन्तिम रेखा पर देखकर उसकी मृदु मुसकान पर अपना सर्वस्व, लौकिक और पारलौकिक, वार देने के लिये प्रेम के पारावार को पार कर के अपनी रक्षा करने की चेष्टा में प्रवृत्त हो रहे हैं। हाय! चन्द्रशेखर! तुम्हारा कैसा दुस्साहस है; कैसा असम्भव अभिमान है; कैसा व्यर्थ स्वार्थत्याग है।

चन्द्रशेखर प्रायः सब समय ही उपवन में रहते हैं। वह कल्पना का साहचर्य पाकर, किशोरी को नायिका बनाकर, भावों की रस-लहरी को प्रभावित करके अपने हृदय-पट पर, अव्यक्त भाषा में, मनोहर चिंता छंद में एक महाकाव्य की रचना करते हैं। छन्द के साथ कहीं वीणा भी बज जाती! रस मन्दाकिनी यदि कहीं उन चरण-कमलों को भी चूम पाती! कल्पना यदि कहीं किशोरी का शृङ्गार कर पाती! किन्तु उषा के विना प्रातःकाल का वैभव निष्फल है; पात्र के विना रस का आधार नहीं है; सौन्दर्य के विना भक्ति का प्रवाह व्यर्थ है; और किशोरी के विना जगत् शून्य है।

चन्द्रशेखर उसी शून्य में आत्म-विस्मृत होकर घूमने लगे। उपवन की फल-विनम्र पादप-राजि, कुसुमाभरण-भूषित लता-श्रेणी दुग्ध फेन-विनिन्दित दूर्वादल, कलकंठ पक्षिकुल, अधिक

क्या, प्रकृति का सम्पूर्ण वैभव भी, उनको अनेक प्रलोभन देकर भी, शून्य में जाने से न रोक सका। चन्द्रशेखर निरुद्देश हृदय, अनियंत्रित गति, उदासीन मनि, अवांछित आशा और अशेष ज्वाला के साथ, इस जगत् के महाशून्य में गृह को परित्याग करके चल दिए। सब कुछ टूट गया, केवल एक बंधन है; जीवन की विद्युत् के साथ उसका सम्बध है। जिस दिन वह टूटेगा, उस दिन संभवतः—चन्द्रशेखर इस जगत् में नहीं रहेंगे।

कैसा आश्चर्य है—कठिन जीवन एक सूक्ष्म तन्तु पर अवलंबित है।

(४)

महाशून्य की महाशान्ति कैसी भयंकर है। अर्ध-निशा के समय श्मशान-भूमि में, यामिनी के तृतीय प्रहर की समाप्ति के समय, मरणोन्मुख व्यथित की मृत्यु-शय्या के पार्श्व देश में, निर्घोष उल्कापात के समय तिमिरावृत गगन-मण्डल में, निर्बोध के हृदय पर अत्याचार के समय नीरव आघात में—कैसी भयंकर शान्ति होती है, उसका अनुभव इस मत्सरमय संसार को अनेक बार प्राप्त हुआ है। उसी महाशून्य की महाशान्ति में, महारात्रि की महानीरवता में, चन्द्रशेखर कूद पड़े हैं। महाज्योति का आभास पाकर, महासंगीत का निनाद सुन कर चन्द्रशेखर पार हो सकेंगे या नहीं, इस विषय में संदेह करना मूर्खता का लक्षण नहीं है।

चन्द्रशेखर ने अनेक तीर्थों में परिभ्रमण किया, अनेक पुनीतसलिला सरिताओं में स्नान किया, अनेक जनशून्य काननों में परिभ्रमण किया, किन्तु उस महाशून्य में वल्लकी के स्वर कभी नहीं गूँजे, आनन्द की भैरवी का रव कभी कर्णगोचर नहीं हुआ,

अभिलाषा की ताल पर आशा के उस मनोहर नृत्य की पद-झंकार कभी नहीं सुनाई दी। उसी महाशान्ति के बीच में चन्द्रशेखर एकाकी घूमने लगे। महाशून्य में परिव्याप्त महावायु ने मानों उनकी हृदयाग्नि को और भी भयंकर रूप से प्रज्वलित कर दिया। अब वेदना का नीरव दर्शन और व्याधि की निर्दोष ज्वाला उनके उस काम-कल्प कोमल कलेवर को भस्मसात् करने की प्रबल आयोजना करने लगी।

कहाँ है वह स्निग्ध नवनीत तुल्य शान्ति—जो शान्ति संसार-त्यागी महात्माओं का भी हृदय आकर्षित कर लेती है, सघन वन में उत्पन्न होने वाली कली को चूमकर हँसा देती है, शैल-शिखर पर स्थिर होकर औषधि-वर्ग में संजीविनी-शक्ति का प्रचार कर देती है, नन्दन कानन में पारिजात को विकसित करती है, ऋषियों के हृदय में आत्मा के स्वरूप का—आनन्द की अक्षय ज्योति का—दर्शन कराती है, उषा के निद्रित नयनों में प्रद्युम्न की मनोहर मूर्त्ति को लाकर स्थापित करती है, निर्बोध बालक के मंजुल मुख पर मन्दहास्य, मातृत्व के पवित्र वक्षःस्थल में करुणा और भ्रातृत्व के पवित्र हृदय सदन में स्वार्थ-त्याग की लहरी प्रवाहित करती है। जिसकी छाया में योगी की आत्मा निर्वाण-पद को प्राप्त करती है, जिसके आश्रय में सुरनिवास स्वर्ग की पदवी धारण करता है, जिसके चरणतल में स्थित होकर धर्म अपनी रक्षा करता है, पुण्य पादप जिसकी पद-निःसृत मंदाकिनी से सिंचित होकर ऊर्ध्वमूल कहलाता है, 'जिसकी प्रणय मुद्रा को देख कर त्रसित आश्वस्त हो जाते हैं, जिसकी मृदु मुसक्यान देख कर चंचल अचल हो जाते हैं, जिसका वीणाविनिन्दित स्वर सुन कर, उन्मत्त होकर, वायु मन्द मन्द बहने लगता है, जिसकी कान्ति को देखकर जल, आत्मविस्मृत हो कर, निर्मल शान्त हो कर, अनन्त की ओर

प्रवाहित होता है, वह शान्ति—प्यारी शान्ति कहाँ है ? चन्द्रशेखर उसके लिए व्यग्र हो गये। उस शान्ति को प्राप्त करने के लिए अशान्त हो गये। उमड़ा हुआ हृदय-पयोधि नयनों से वह चला। वह अश्रुधारा हृदय की धधकती हुई अग्नि में घृतधारा अथवा शीतल वारि-धारा होकर पतित होगी सो कौन कह सकता है!

गिर पड़े चन्द्रशेखर हिमाचल की उस परम रम्य उपत्यका में, कदलीवन-वाहिनी कल्लोलिनी के कोमल दुकूल पर, चन्द्रिका-चर्चित शिलाखण्ड पर, मन्द पवनांदोलित कुसुम-शय्या पर, शान्ति का पवित्र आश्रय न पाकर मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ में पतित हो गए।

मूर्च्छा शान्ति का क्षीण आभास है।

(५)

मूर्च्छा निद्रा की सहोदरा है। जिस प्रकार निद्रा अमित विश्व को अपने विशाल वक्षःस्थल पर सुलाकर शान्ति-प्रदान करती है, उसी प्रकार मूर्च्छा भी व्यथित प्राणी को अपनी गोद में लेकर उसे शान्ति-प्रदान करके फिर तुमुल संग्राम के लिए प्रस्तुत करती है। मूर्च्छा के कोमल क्रोड़ को छोड़ कर निद्रा की आनन्ददायिनी गोद में चन्द्रशेखर कब आए—सो भगवती ही जाने।

* * * *

चन्द्रशेखर ने स्वप्न देखा—

वर्षा-ऋतु का प्रथम प्रातःकाल है। कैलास के कांचन-शिखर पर नवीन नीरधर मरकत और कनक के अपूर्व संयोग की अनोखी छटा को दिखा रहे हैं। कदली-वन के अभ्यन्तर में कोकिला अपने कलकंठ से बोल रही है। मानस-सरोवर का शुभ्र निर्मल जल

गगन-व्याप्त सघन घनपुंज की छाया को धारण करके कालिन्दी के घनश्याम-रंजित नील जल की समता कर रहा है। गोपिकाएँ मानों मराल-माला बनाकर नील नीरज को चतुर्दिक से परिवेष्टित कर रही हैं। मयूर हर्षोन्माद से नृत्य कर रहे हैं। पवनान्दोलित जल-तरंग-माला यौवन के प्रथम आवेग में, एक दूसरे के गले मिल कर प्रियतम के आलिंगन के काल्पनिक सुख का अनुभव कर रही है। समय कैसा सुन्दर है, कैसा शान्त और मनोरम है!

उन्होंने देखा—सूर्य-किरण-माला का उल्लासप्रद नृत्य नहीं है, किंतु शीतल छाया की मनोहर पद-झंकार है; वसंत का विकार-वर्धक वायु नहीं है, वरन व्याकुल हृदय को शीतल करने वाली मंद समीर है, ज्योति का तीव्र तेज नहीं है; वरन शान्ति की स्निग्ध छाया है। चन्द्रशेखर ने स्वप्न में उस चिराभिलषित शान्ति का सुखद सहवास प्राप्त किया।

उन्होंने देखा—एक लता-मण्डप में एक शिला-खंड पर, नृत्य एवं कल्लोल करती हुई कल्लोलिनी के तट पर कल्पना और चिन्ता बैठी हुई हैं। चिन्ता का मुखमण्डल मानों दया का पारावार था, कल्पना का सुन्दर वदन-मण्डल मानों शृंगार की मंदाकिनी थी। चन्द्रशेखर कुसुमाच्छादित द्वार-देश पर खड़े होकर उन दोनों की बातें सुनने लगे।

कल्पना ने कहा—"बहन! कहाँ है वसन्त का वह मनोहर देश? कहाँ है समीर की वह मदमत्त गति? कहाँ है कोकिल की वह उन्मत्त कूक? ज्ञात होता है, मानों एक महान छाया ने अपने अञ्चल में उस वसन्त के सूर्य को छिपा लिया है।"

चिन्ता ने कहा—'ना बहन! यह वसन्त का परिवर्तित देश है। विलास के गान से मुखरित वन में आज शान्ति का कोमल स्वर परिव्याप्त हो रहा है। सूर्य की अभिमानिनी किरणमाला को

अपने वक्षःस्थल में छिपा कर भगवान् की सुस्निग्ध छाया अपनी उदारता का परिचय दे रही है। बहन, ब्रह्मांड के समस्त धामों में विहार न करके यदि केवल उसी में विहार किया जाय, जिसके चतुर्दिक् अनन्त ब्रह्मांड घूमते हैं, तो जीवन का दुःख सुख परिवर्तित हो सकता है; उन्मत्त युवक वसन्त शान्त प्रावृट्-सन्यासी के रूप में परिवर्तित हो सकता है। आज वसन्त का वही सन्यास-वेश है। वसन्त संसार का साम्राज्य छोड़ कर, प्रकृति के विशाल वक्षःस्थल पर, उसके स्तनद्वय की पुण्य पीयूष-धारा को पान करके, ज्ञान की कांचन-कन्दरा में निर्वाण-दायिनी शान्ति का आश्रय ग्रहण कर रहा है। कल्पना ! देखती हो इस मूर्ति को ?"

कल्पना ने कहा—"हाँ, देखती हूँ बहन।"

चिन्ता ने कहा—"तब आओ ! तुम्हारे पृथक् रहने की आवश्यकता नहीं। मेरी विभिन्न विभूति की भाँति अब तुम भी मेरे ही में अन्तर्हित हो जाओ।"

कल्पना चिन्ता में तल्लीन हो गई। किन्तु चिन्ता के मुख पर वही मन्द हास्य था, जिसे शिशु माता के मुख पर, बाल-किरण कुसुम के अधर पर, योगी उमा के वदन पर, त्यागी सन्तोष के ओष्ठ पर और व्याकुल शांति के उज्ज्वल आनन पर देखता है।

चन्द्रशेखर ने देखा—प्रकृति की प्रकृत शान्ति विशुद्ध चिन्ता के रूप में, योगियों के हृदय-सदन में, बालकों के मन सुमन में, और विश्वप्रेम के परोपकार-प्रासाद में रहती है। चन्द्रशेखर आनन्दातिरेक से जाग उठे।

× × ×

चन्द्रशेखर ने देखा सामने एक वृद्ध योगीश्वर बैठे हैं। चन्द्रशेखर

ने प्रणाम किया। योगीश्वर ने आशीर्वाद देकर कहा—"वत्स, मेरे साथ आओ।"

धर्म विश्वास को, त्याग परोपकार को, और सन्तोष नैराश्य को मन्त्र-दीक्षा देने के लिए ले चला।

चन्द्रशेखर और योगीश्वर ने उसी कदली-वन में प्रवेश किया। चन्द्रशेखर को प्रतीत हुआ कि इनके उत्तप्त हृदय पर मानों शान्ति-कादम्बिनी की प्रथम पीयूष-धारा पतित हुई।

योगीश्वर और चन्द्रशेखर उस कदलीवन के अभ्यन्तर में अग्रसर होने लगे। मधुर स्वर से पतन होने वाली जल-धाराएँ, झूमती हुई कुसुमाभरण-भूषिता लताओं की गोद में हँसते हुए गुलाब-कुसुम, चित्र-विचित्र पक्षिकुल का मधुर स्वर—सब मिल कर योगीश्वर और चन्द्रशेखर का अभिनन्दन करने लगे। कदली-दल ने अपने दीर्घ बाहुओं को मानों उन्हे आलिङ्गन देने के लिए प्रसारित किया। चन्द्रशेखर और योगीश्वर प्रकृति के साम्राज्य में विचरने लगे।

कदली-कानन के अभ्यन्तर में एक वन्य चमेली का मनोहर लता-मण्डप है। पीत पुष्पों से समस्त वनस्थली वसन्त की शोभा का परिहास कर रही है। इधर-उधर से दो तीन झरने कल-कल शब्द करते हुए बह रहे हैं। उसी लता-मंडप के सम्मुख योगीश्वर और चन्द्रशेखर खड़े हो गए।

योगीश्वर ने कहा—"चन्द्रशेखर! स्वप्न की बात स्मरण है?"

चन्द्रशेखर ने उत्तर दिया—"हाँ प्रभो, स्मरण है। इस समय मैं स्वप्न को सत्य के स्वरूप में देख रहा हूँ।"

योगीश्वर ने कहा—"देखोगे—आगे चलकर और भी

देखोगे। अपने प्रेम के व्यक्तित्व को अनंत महासागर में निमग्न करदो।"

चन्द्रशेखर ने कहा—" कैसे करूँ भगवन्, जिसको हृदय के सिंहासन पर बिठाया है, उसे उतारकर महाशून्य में कैसे फेंक दूँ ?"

योगीश्वर ने हँसकर कहा—"चंद्रशेखर, महाशून्य में नहीं ! मैं कहता हूँ अनन्त में। आँखें उठाओ।"

चंद्रशेखर ने आँखें उठाकर देखा, लता-मंडप में, वन्य पुष्पों के कोमल आसन पर, अनन्त सुषमामयी भगवती भारत-माता खड़ी हैं। चंद्रशेखर ने नत-शिर होकर प्रणाम किया।

योगीश्वर ने कहा—'देखते हो, कैसी मोहिनी मूर्ति है ! कैसी जननी स्वरूप है ! मातृत्व की विमल धारा मानों स्तनों से बहकर संसार में शान्ति-पीयूष को प्रवाहित कर रही है। देखो मा का हीरक-खचित शुभ्र किरीट, नीलाब्ज-चित्रित अंबर ! और देखो मा का यह ऐश्वर्य ! इन्हीं मा के पादपद्मों में अपने प्रेम के व्यक्तित्व की अंजलि समर्पण कर दो। विश्व-प्रेम का पवित्र मंत्र ग्रहण करो।"

चंद्रशेखर ने कहा--"और किशोरी ?"

योगीश्वर ने चंद्रशेखर के सिर पर हाथ रखकर कहा—"किशोरी को गिरिराज-किशोरी के रूप में देखो।"

चंद्रशेखर ने देखा, किशोरी मानो माता की ममता-लहरी से चंद्रशेखर को अभिषिक्त कर रही है; सौन्दर्य व्यक्तित्व को हटा कर संसार को अपनी वात्सल्यमय मुसकान और प्रेममयी करुणा-धारा से शीतल कर रहा है।

चंद्रशेखर ने माता को साष्टांग प्रणाम किया। ज्ञात हुआ कि

उत्तप्त कलेवर पीयूष में स्नान करके शीतल हो गया; वेदना मानो करुणा की आशीर्वाद-लहरी में अवगाहन करके शान्त होगई। चंद्रशेखर ने अपूर्व शान्ति प्राप्त की।

माता का कोमल क्रोड़ ही शान्ति का निकेतन है।

टटोलूराम जी टलाखी

(लेखक—बदरीनाथ भट्ट, बी० ए०)

(१)

हिन्दी-पुस्तकों के नामी प्रकाशकों में टटोलूराम जी टलाखी एक जीव-विशेष हैं। हिन्दी-संसार में, जिल्द बाँधने से लगाकर मौलिक-ग्रन्थ-लेखन तक, जिन जिन लोगों को कुछ भी काम करना पड़ता है उन सभी की जिह्वा-सड़क पर होकर टटोलूराम जी टलाखी का नाम-ठेला—आठ घन्टे सोने के निकाल दीजिये—सोलह घन्टे में दो चार बार अवश्य ही निकल जाया करता है। ऐसे हैं टटोलूराम जी टलाखी।

आपका असली नाम क्या है, यह अब किसी को याद नहीं है; याद हो भी तो कोई लेता नहीं है। आपकी प्रवृत्ति देख कर बहुत दिनों से लोग आपको टटोलूराम ही कहते आये हैं। कुछ मित्रों ने आपके पीछे 'टलाखी' की दुम लगा दी है, अतएव वे आपको 'टलाखी' ही कहते हैं। पाठकों के कुतूहल को दूर करने के लिये इस बात की आवश्यकता है कि उन्हें यह बतला दिया जाय कि आपके ऐसे ऐसे विचित्र नाम क्यों रक्खे गये। बात कुछ नहीं है; अड़ोसी-पड़ोसियों और मिलने-जुलने वालों ने देखा कि आप धन और यश की टटोल में बेतरह रहते हैं, बस इसी से आपका नाम टटोलूराम पड़ गया। अपने पुस्तक-प्रकाशन के व्यवसाय की बदौलत आपको दोनो ही वस्तुएँ प्राप्त करने में कितनी सफलता हुई, जानकारों से यह छिपा नहीं है। रही

'टलास्त्री' की, सो यह उपाधि आपको आपके मित्रों ने, सर्व-सम्मति से, तब देना उचित—नहीं—आवश्यक समझा जब उन्होंने देखा कि और तो और, टाल बताने में आप अपनी स्त्री से भी नहीं चूकते। उदाहरणार्थ, यदि कभी स्त्री ने कहा कि 'माँग में लगाने को सिन्दूर नहीं रहा है, अधेले का लेते आना' तो आपने उत्तर दिया, "वह जो लाल स्याही की दवात ऊपर रक्खी है उसमें आज ही एक नई गोली डाली है, उसी से अपना काम चलाना; और या, न हो तो, वह जो लाल कनकौआ परसों हमने छत पर तोड़ लिया था उसमें से फाड़ कर थोड़ा सा कागज का टुकड़ा चिपका लिया करो। अभी सिन्दूर के लिए पैसा कहाँ! किताबों की वीपियाँ गई हैं, दाम आने पर ला देंगे।"

टलास्त्री ने देखा कि प्रकाशन का काम धड़ल्ले से चल ही रहा है, ऐसे में लेखक, सम्पादक आदि भी बन बैठने का पूरा मौक़ा है। यही नहीं, इस सुअवसर को यों ही गँवा देना मूर्खता—और सो भी उच्च कोटि की—है। बस, आपने अपने काम के ढंग में तुरन्त कुछ सुधार कर दिये। जितने बड़े बड़े लेखक थे उनको अपने पास से किराया देकर बड़ी विनम्रता के साथ, पीछे पड़ कर, अपने यहाँ निमन्त्रित किया। यदि किराये में २) खर्च हुए तो आपने ५) दिये उन्हें खूब ही मिठाई खिलाई जिस से कि उन्हें कुपच होगया और, दो-एक दिन में घर लौटना तो रहा एक ओर, उन बेचारों को दस-पन्द्रह दिन उन्हीं के यहाँ खटिया गोड़नी पड़ी। इस बीच में उन्होंने उनकी खूब ही सेवा की और कराई। सिविल सर्जन से लगाकर हकीम जानमारू अली खाँ साहब तक को १६) देकर बुलाया। चिकित्सकों, मोटरों और ताँगों का ताँता बाँध दिया। जब लेखक जी कुछ स्वस्थ हुए तब उन्हें जबर्दस्ती सिनेमा दिखाने ले गये। यों आतिथ्य-सत्कार के

समुद्र में उन्हें वह गहरी डुबकियाँ दीं कि उनके हृदय पर इनकी उदारता, गुण-ग्राहकता, भलमनसाहत और वैभव की पूरी छाप लगे बिना न रही। इसी प्रकार अच्छे अच्छे लेखकों को वश में करके सर्वसाधारण में और समाचारपत्रों में इन्होंने उनसे अपनी खूब ही प्रशंसा करा ली, यहाँ तक कि दो एक से तो, खुशामद-दरामद करके, पुस्तकों का समर्पण भी करा लिया।

यह तो हुई बढ़िया लेखकों की बात, अब साधारण लेखकों के विषय में सुनिये। जब कोई साधारण लेखक इनके यहाँ आता तब उसका खूब ही सत्कार किया जाता और उसके सामने ये प्रस्ताव रक्खे जाते:—(१) पुस्तक छोड़ जाइये; यदि हमें पसन्द आगई तो हम उस पर—औरों को तो एक ही आना देते हैं—आपको, खैर, डेढ़ आना पेज पुरस्कार दे देंगे। इससे अधिक पुरस्कार देना हमारे सामर्थ्य के बाहर है। (२) हाँ, यदि आप इससे अधिक पुरस्कार लेना चाहते हैं, अथवा यदि आपको धन की आवश्यकता है, तो वैसी कहिए। हमारे यहाँ एक और गुप्त नियम है, जो हर किसी को नहीं बताया जाता; केवल उन्हीं को बताया जाता है जो इसके पात्र समझे जाते हैं; जो हिन्दी-सेवा अपने नाम के लिए नहीं बल्कि अपना पवित्र कर्त्तव्य समझ कर करते हैं। उस पवित्र नियम के अनुसार पुरस्कार चौगुना तक मिल जाता है, परन्तु पुस्तक पर लेखक का नाम नहीं छापा जाता; हमें अधिकार रहता है कि हम जिसका चाहे उसका नाम छाप दें, अथवा किसी का भी न छापें। आप सज्जन हैं, अतएव आपको, अपनी कृति पर और किसी का नाम देखना अच्छा न लगे, ऐसी दशा में आप का उत्साह बढ़ाने के लिये, खैर, हम अपना ही नाम उस पर छाप देंगे। उस दशा में हम ।) से ।=) पेज तक आप को दे सकेंगे; पर कहीं और किसी से न कह दीजिएगा कि

हमने आपको क्या दिया है, वरना भाव बिगड़ जायगा। ये व्यापारिक कला की बातें हैं। इन्हें अभी आप नहीं समझते। (३) आजकल लोग बड़ी ही शिथिल भाषा में लिखते हैं; हमें बड़े बड़े लेखकों की भाषा की मरम्मत, प्रूफ़ों में, करनी पड़ती है। अतएव जिन पुस्तकों पर हमारा नाम लेखक की हैसियत से नहीं छपता उनपर हम सम्पादक रूप में अपना नाम दे देते हैं और यह, हमारे परिश्रम को देखते हुए, उचित भी है। आशा है आप इस विषय में हमसे सहमत होंगे।

यों बातें मारमूर कर लेखक को पटीत लिया जाता था। कभी कभी ऐसा भी होता था कि लेखक की पुस्तक उसका उत्साह बढ़ाने के लिये, दो तीन वर्ष तक पड़ी रहने दी, और बाद को, उसकी प्रतिलिपि करा कर और "नापसन्द है" लिख कर लौटा दी। बड़े लेखकों को, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, खूब ही बना लिया जाता था। उनसे इतनी प्रशंसा करा ली जाती थी कि फिर जब उनके साथ दुर्व्यवहार का युग आरम्भ होता तो वे ताकते ही रह जाते थे! कुछ कह इसलिये नहीं सकते थे कि उनके मुँह में उन्हीं का, पहले से लगाया हुआ, प्रशंसारूपी ताला पड़ जाता था; कुछ लिख इसलिए नहीं सकते थे कि पहले से उन्हीं की तैयार की हुई प्रशंसापूर्ण लेख-रूपी रस्सी से उनके हाथ बँधे होते थे।

(२)

बटोलूराम का कार्यालय जिस नगर में था वह युक्तप्रान्त का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान भी था। वहाँ नित्य नए आदमी आते रहते थे। कार्यालय भी ऐसे स्थान पर था कि पुण्यतोया नदी में स्नान करने जाओ तो मार्ग में पड़े। साइनबोर्ड तो कई थे पर सब से मार्के का वह था जो लड़को का बना हुआ था। सवेरे

ही, आठ आठ नौ नौ वरस के लड़के, काठ के बने हुये—कार्यालय के नाम के—एक एक बड़े अक्षर को लेकर एक पंक्ति में खड़े हो जाते और बाँसुरी और खंजरी की मधुर ध्वनि से पथिकों का ध्यान आकर्षित करते थे। सबकी एक सी पोशाकें और प्रायः एक सी सूरतें थीं। कुछ घण्टों के बाद दूसरा समूह उनकी जगह काम पर आ जाता था। इस प्रकार दिन में कई बार पारी बदलती थी। इस विचित्र साइनबोर्ड की बदौलत दूकान के सामने, जब देखो तब मेला लगा रहता था। विक्री भी खूब होती थी। जिसकी ऐसी कार्य-कुशलता और जिसका इतना वैभव हो उसके यहाँ काम करने को लक्ष्मी तो क्या, लक्ष्मी का बाप आवेगा, यही सोच कर, विद्वान परन्तु निर्धन, पण्डित वैयाकरण बलीवर्दजी 'तीर्थ' आये तो तीर्थयात्रा करने थे पर, काम मिलने का सुयोग देखकर ठहर गये और टटोलूराम जी के यहाँ कुछ काम करने लगे। तीर्थ जी की अनेक पुस्तकें संचालक जी के नाम से छपीं, अनेकों का सम्पादन हुआ, कई का समर्पण भी। तीर्थजी ने संचालकजी की प्रशंसा में लेख और कवितायें छपाईं। तीन-चार वर्ष तक 'तोहि और न मोहि ठौर' की कहावत खूब चरितार्थ होती रही। इसके बाद बलीवर्द जी के उच्च के ग्रहों के टलने का समय आया। उन पर संचालक जी का वह प्रेम नहीं रहा, और धीरे से उनका हिसाब अटका लिया गया। प्रेम न रहने का कारण यह हुआ कि तीर्थ जी ने जन्म भर परिश्रम करके पाणिनि के पिता के सम्बन्ध में जो एक अद्भुत ग्रन्थ लिखा था उसे वे संचालक जी के नाम से छपाने को तैयार न हुए। यह क्या कोई साधारण अपराध था? इस पर तो तीर्थ जी के लिये फांसी की सजा भी थोड़ी थी, सो दयालु संचालक जी ने तो केवल उनके १५०) दबा कर ही संतोष कर लिया था।

भला उनके गुरुतम अपराध के लिये यह कौन बहुत बड़ा, जुर्माना हुआ ? मान लीजिये, ये रुपये उन्हें दे ही दिये जाते, और तब उनके यहाँ से कोई चोर उठा ले जाता, तो वैयाकरण जी कौन से सूत्र से इस रक़म की सिद्धि करते ?

(३)

जब किसी गरीब साहित्य-सेवी का रुपया दबा लिया जाता है तब उसके मन पर कैसी बीतती है यह भुक्तभोगी ही जानते हैं। वैयाकरण जी को ऐसा लग रहा था मानों कोई उनका गला घोंटे दे रहा हो। न किसी से कहने के, न सुनने के! चुपचाप मन ही मन अपने को कोसा करते कि क्यों मैंने इस दुष्ट बनिए का विश्वास किया, जब कि मैं प्रत्यक्ष देख रहा था कि धीरे धीरे वह सबके साथ विश्वासघात करता चला जा रहा है! धिक्कार है ब्राह्मणों की प्रकृत मूर्खता को! गायत्री के लाखों जप कर डालने पर भी ब्राह्मणों का भोंदूपन दूर नहीं हुआ! ब्राह्मणों के रहनसहन में अवश्य ही कहीं पानी मरता है जो इतनी संध्या-पूजा करने पर भी ये इतने मूढ़ हैं।

जब ये इस प्रकार आत्म-फटकार में लगे हुये थे तब ईश्वर ने भी सोचा कि भक्त की परीक्षा का यही समय है। घर से एक पत्र आया कि पत्नी का परसून उखड़ आया है और बचने की कोई आशा नहीं; क्योंकि पड़ोस के वैद्य, जिनकी दवा से वे सदा अच्छी होती रही थीं, मौका देखकर, परलोक को सिधार गये हैं। पत्र पढ़ते ही तीर्थ जी विकल होकर चिल्ला उठे, "भगवान आयु थोड़ी दे, पर दुःख न दे।" आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई हाय जीवन की संगिनी, दुख-सुख की साथिन, सहानुभूति की मूर्ति वहाँ विदा हुई जा रही है, और मैं, निरपराध पंछी की भाँति इस कठोर बहेलिये के जाल में बेबस पड़ा हुआ तड़प रहा हूँ।

जाऊँ तो तब जब यह कमबख्त रुपया दे! इतनी प्रार्थनाएँ कीं, इतना रोया-गिड़गिड़ाया, इतने पत्र-पुष्प मारे, पर यह संचालक अजगर टस से मस नहीं होता। लोटा-थाली तक बेच कर खा गया, यहाँ तक कि बेचने योग्य भी कोई चीज़ नहीं रह गई है; फिर जाऊँ तो कैसे जाऊँ? स्त्री तो अभी तक मर भी गई होगी। इसी प्रकार के विचारों के समुद्र में गोते लगाते लगाते तीर्थ जी को एक तिनके का सहारा मिल गया। उन्होंने सोचा कि संचालक को बिहारी-सतसई से बड़ा प्रेम है। यदि मैं उसी की टक्कर के दोहों में अपने मनोभाव प्रकट कर सकूँ तो कैसा हो? बिहारी के केवल एक ही दोहे पर जयपुर के राजा अपने कर्तव्य की ओर सावधान हो गये थे, फिर क्या मेरे कई दोहों से भी संचालक को चेत न होगा? क्या यह ऐसा पाषाण-हृदय है? कभी नहीं। यह सोच कर तीर्थ जी ने अपने बुद्धि तरकस से निकाल कर सात दोहे का एक पत्र-बाण छोड़ा, जिसे वे अमोघ समझते थे। बाण की पूँछ की भाँति उन्होंने प्रत्येक दोहे के पीछे एक दुम भी लगा दी जिसमें वे अवश्य, ठीक सीध मे जा कर, लक्ष्य को भेद दे। पत्र यह थाः—

(१)

नित नूतन बातन बना करत 'सुबह' अरु 'स्याम';
रचन बचन मम मन बसो सदा टटोलूराम।
जपौं नित तोहि मैं।

(२)

माल परायो मारि कै फिर जनि लेत डकार;
लालन तुम नीके बने हिन्दी-बालन-हार।
बकसिये याहि तौ।

(३)

ऊँट टटोलूराम हैं पुस्तकमाला डाढ़ ;
पुरष्कार जीरा अहै चतुर देय कोउ काढ़ ।
न मेरो बसु चलै ।

(४)

स्यामु नचावत जगत कौं कुबजा तिनहिं नचाय ;
सबहिं छकावत हम थके सो तुम दये छकाय ।
रहि गये टापते ।

(५)

मेद फटी मम देह की फिरत तिहारी पोर ;
ए चित चोर न ओर मम करत अजहुँ दृग-कोर ।
चरनदासीं फटीं ।

(६)

कौन पाप अति पीन जौ तो पै कीन यकीन ;
हे प्रबीन मोहिं दीन लखि उधरहु चतुर-धुरीन ।
भयौ अति आतुरौ ।

(७)

बहुत करी तुअ चाकरी अब जाऊँ निज गेहु ;
कृपा करहु पाँयन परत पुरस्कार मोहिं देहु ।
करूँ आदाबरज ।

खेद की बात है कि जिसे तीर्थ जी रामबाण समझते थे वह संचालक के हृदय को बेधना तो एक ओर रहा—उसके कुरते के बटन तक को न बेध सका । उस चिकने घड़े पर यह बूँद भी न ठहरी—ढलक कर पृथ्वी पर गिर पड़ी और धूल में मिल गई !

तीन-चार दिन बीत जाने पर और उत्तर न मिलने पर तीर्थ जी बिलकुल ही हताश हो गये। अब उनकी बेबसी ने उग्र रूप धारण किया और कोई उपाय न देखकर ब्राह्मणोचित कोप के वशीभूत हो कर नदी में डूब मरने का निश्चय किया। इस 'निश्चय' को कार्य रूप में परिणत करने के लिये एक दिन सवेरे ही वे झपटते हुये नदी-किनारे पहुँचे। संयोग से उस दिन कोई पर्व था इसलिये भीड़-भाड़ भी खूब थी। भीड़-भाड़ की पोल में डूबने का अत्युत्तम अवसर कहीं यों ही न निकल जाय यह सोचते हुये तीर्थ जी जल में आगे बढ़ते चले गये। उपनिषद् के 'असूर्या नाम ते लोकाः' आदि मन्त्र तो उन्हे शायद याद ही नहीं आये; हाँ, इस बात का खुटका मिटाने के लिए कि उनके मन का भाव ताड़ कर कहीं कोई उन्हें पकड़ने तो नहीं आ रहा है, वे बार बार लौट कर पीछे देख लेते थे। नरक में जाने और कष्ट पाने के सम्बन्ध में उन्होंने अपने मन का समाधान यों कर लिया था कि कातर और निराश को भय किसका ? नरक में दुःख मिलेगा, दुःख ही सही; हिन्दी संचालकों से तो पाला नहीं पड़ेगा; मरने और जीने के बीच की इस त्रिशंकु की दशा से तो पीछा छूटेगा।

विचारों में मग्न तीर्थ जी अब लगे अथाह जल में डुबकियाँ लेने। तीर्थजी का बश चलता तो वे, एक बार पानी में डूबकर फिर न उछलते, जिसमें उन्हें कोई देख न ले। पर नदी का जल उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हे बार बार ऊपर उछाल कर और 'ये चले'! 'ये चले!' शब्द करके मानों व्याकरण के सभी सूत्रों की अवहेलना कर रहा था! इधर तीर्थजी उससे मन ही मन यह कहते जाते थे कि 'अरे मूर्ख ! सच मान, मै जान बूझ कर डूब रहा हूँ, अकस्मात् नहीं, दुष्ट, क्यों मुझे बार बार ऊपर उछाल रहा है ?' और उधर वह अधिकाधिक उनके पेट में भरता जा

रहा था। क्षण भर में वे प्रायः संज्ञा-शून्य होगये। इतने में किसी ने उनकी चुटिया पकड़ कर झटका दिया। तीर्थ जी ने समझ लिया कि यमदूत आगये और मुझे चुटिया पकड़ कर यमलोक की ओर खींच रहे हैं। तीर्थ जी की आँखें बन्द थीं। यमदूतों ने उन्हें उलटा किया और चपतें मारी। उनके कान में, कहीं बहुत दूर से ये शब्द आये-' साले, तैरना नहीं आता था तो आगे क्यों बढ़ता चला गया था ?' यमलोक में भी खड़ी बोली बोली जाती है यह तीर्थ जी को आज ही मालूम हुआ; वे अब तक इसी धोखे में थे कि परलोक में सभी जगह संस्कृत का दौर-दौरा है। इसके बाद किसी ने उनका मुँह फाड़ कर विष-सरीखी कोई कड़वी चीज उँडेल दी। इसके बाद क्या हुआ, पता नहीं। चार पाँच घण्टे बाद जो उनकी नींद खुली तो देखा कि बचपन के सखा वकील लद्दूलाल जी पास बैठे मुसकरा रहे हैं। उन्हें देखते ही तीर्थ जी लपक कर उठ खड़े होने की चेष्टा करते हुये बोले,-" लद्दू ! तुम यहाँ कब के आये ! मैं जो तुमसे कहा करता था कि वकील लोग अवश्य नरक में जायेंगे ! चलो तुमसे यहाँ मन तो बहला रहेगा।"

वकील साहब ने तीर्थ जी को उठने नहीं दिया और कहा—" अब तुम बहुत बातें फिर कर लेना। चुपचाप पड़े रहो; वरना थक जाओगे, पण्डा दूध लेने गया है; अभी आता होगा; घबड़ाओ मत।"

फिर उठने की चेष्टा करते हुये तीर्थ जी ने कहा-"पर मित्र ! यह तो बताओ कि यह है कौनसा-रौरव या कुम्भीपाक?" वकील ने ' न मानोगे तुम ' कहते हुये अपने हाथ से उनका मुँह बन्द कर दिया। थोड़ी देर में दूध आगया और वह तीर्थजी को पकड़-धकड़ करके पिला दिया गया। अब तीर्थ जी के होश ठिकाने

आये। वकील ने उनकी उत्सुकता मिटाने के लिए उनसे सब हाल कह दिया कि किस प्रकार वे डूब रहे थे और घाटवालों ने उन्हें निकाला, कैसे वकील साहब भीड़ में आ मिले और उन्हें पहिचान कर अपने पण्डे के यहाँ ले आये जहां वे दो दिन से ठहरे हुए हैं। इधर धीरे-धीरे तीर्थ जी ने भी अपनी सारी गाथा गाई। जिससे सुनकर वकील साहब को बड़ा आश्चर्य और क्रोध हुआ, और बोले, "मैं इस बेईमान को ऐसा नहीं समझता था; यह तो बहुत बड़ा आदमी समझा जाता है।"

वकील साहब ने उन्हें भरोसा दिलाया कि मैं तुम्हारे रुपये वसूल कर दूँगा। तीर्थजी ने कहा-"अजी मैंने छोड़े ऐसे रुपये। चूल्हे में जाने दो उन्हें, अब तुम मिल गए हो तो, भैय्या, कम से कम इतना तो करो कि मुझे तीसरे दर्जे का टिकट दिला कर अपने साथ घर ले चलो। मैंने हाथ जोड़ा इन रुपयों को भी और हिन्दी-सेवा को भी।"

वकील साहब को कुछ सनक सवार होगयी। उन्होंने पूछा-"यह आदमी तुमको रुपया नक़द देता था या चेक से?"

तीर्थ जी—"चेक द्वारा।"

वकील ने गम्भीर होकर कहा-"हूँ, बैङ्क को बीच में डालकर रुपये की अदायगी करता था। बड़ा भारी चालाक है।"

थोड़ी देर सोचने के बाद वकील ने पूछा—"अच्छा-तुम यह बताओ कि तुमने इसे आज तक कभी यह लिख कर दिया कि हम अपनी पुस्तकों का कापीराइट तुम्हें बेचते हैं?"

तीर्थ जी बोले—"मुझसे कहा तो कई बार, मैंने भी कहा कि जब चाहो लिखवा लो, पर नौबत इसकी आज तक नहीं आई।"

वकील साहब मारे हर्ष के उछल पड़े, मानों भूखे को मालपुए मिल गये हों, और बोले-"तो तुम्हारी जो पुस्तकें इसने अपने नाम से छपा ली हैं उनको तो जाने दो, यह बताओ कि ऐसी कितनी पुस्तकें हैं जो तुम्हारे ही नाम से छपी हैं ?"

तीर्थ जी ने उत्तर दिया—"मेरी ही सत्रह अठारह पुस्तकों की बदौलत यह धूर्त आज लेखक बन बैठा है, वरना इसको आता ही क्या है ? अपना नाम तक तो ठीक लिख ही नहीं सकता। हाँ, तुमने जो पूछा—मेरी केवल दो पुस्तकें मेरे नाम से छपी हैं।"

वकील-"केवल दो ! और सत्रह अठारह अपने नाम से छपा लीं इसने !! हाथी निगल गया हाथी !!! हद हो गई। हाँ तो तुमने क्या कहा था ? दोनों पुस्तकों का पुरस्कार ३००) हुआ जिसमें से तुम्हें केवल १५०) दिये हैं और बाकी के लिये मुट्ट खींच गया है ! अहाहाहा ! लो, और लिखो किताबें ! मैंने पहिले ही समझाया था कि किताबें लिखने-वाले हमेशा रोते रहते हैं। अच्छा बोलो, अगर मैं तुम्हारे रुपये कल ही, खड़े खड़े, दिलवा दूँ तो तुम मुझे क्या दो ?"

तीर्थ जी—"अरे मित्र, मुझे तीसरे दर्जे का टिकट दिला दो, बाक़ी सब तुम्हीं लेलो, वसूल तो करो किसी प्रकार। अब तुमने मुझे बचा लिया है तो कम से कम इतना तो करो; हाँ।"

वकील-"अच्छा, अब तुम आराम करो, मैं जाता हूँ इसी फ़िक्र में। डेढ़ दो घंटे में आऊँगा। पंडा जी के पास पैसे हैं, तुम्हें जो चाहिये मँगा लेना। दूध दो एक बार अवश्य पीना—गरमागरम।

यों कहकर वकील साहब चल दिये। तीर्थ जी पड़े पड़े यही सोचा किये कि परहस्तगत अर्थ की सिद्धि के नियम अवश्य ही न

तो पाणिनीय में हैं और न महाभाष्य मे, ये तो इन कलयुगी वकालत की ही किताबों में हैं ऐसा अनुमान होता है।

यही सोचते सोचते तीर्थजी को वह गहरी नींद आई कि मृत्यु से स्पर्धा करने लगे!

उधर वकील साहब ने घूम फिर कर और एक स्थानीय वकील से परिचय निकाल कर अपना काम बताया; वह यह कि 'एक नोटिस मैं लिखे देता हूँ, आप कृपया अपने नाम से उसे चलता कीजिये। हाल तो राज़ीनामा हो ही जायगा, यदि न हो तो आप इस मुक़दमे को अपने हाथ में लीजियेगा। जो ख़र्चा पड़ेगा, मैं दूँगा।'

स्थानीय वकील को इसमें कोई आपत्ति न हुई। नोटिस रजिस्ट्री कराके भेज दिया गया। उसमें जो लिखा था उसका सार यह है कि 'आर्य-नरेन्द्र' व 'रामदिग्विजय' के केवल पहले संस्करण के लिये जो पुरस्कार देने का तुमने वचन दिया था उस का केवल तिहाई अभी तक दिया है, अगर पंद्रह दिन के अन्दर बाक़ी रुपया नहीं दे दिया गया तो उसके लिये तुम पर नालिश कर दी जायगी, और उक्त पुस्तकें, इस बात की राह न देखकर कि तुम्हारा पहला संस्करण बिका या नहीं, दूसरे संस्करण के लिए किसी और प्रकाशक को दे दी जायँगी।

(५)

अदालत के डर से बड़े बड़े तीस-मारख़ाओं के छक्के छूट जाते हैं। दूसरे दिन टटोलूराम को नोटिस मिला जिसे पाते ही वे दौड़ते फिरे। इस वकील के पास जा, उस वकील के पास जा, करते करते, जब उन्होंने देखा कि मुक़दमा हार जाना भी संभव है तब वे उसी स्थानीय वकील के पास आए जिसकी मारफ़त नोटिस दिया गया था, और वहाँ से पता लगा कर पंडे के यहाँ आ पहुँचे

देखा तो तीर्थ जी समाचार-पत्रों के लिये एक लेख तैयार कर रहे हैं जिसमें टटोलूराम जी की कार्य-प्रणाली का भण्डाफोड़ किया जा रहा है। वकील साहब तो वहाँ थे ही। बहुत देर तक बातें होती रहीं अन्त में वकील साहब ने कहा—'जनाब, आपने इन्हें बहुत ठगा है, पर अब ऊँट पहाड़ के नीचे आगया है। अधिक वादविवाद करना व्यर्थ है, या तो आप सीधी तरह से १५०) पुरस्कार के और १५०) अपनी धूर्तता के दण्ड स्वरूप इनके हाथ धरिये, वरना फिर देखियेगा कि अदालत में क्या गुल खिलते हैं। न सब हिन्दी-संसार हँसते हँसते लोट-पोट हो जाय तो कहिएगा। आप भी क्या याद रक्खेंगे कि किसी से अटके थे।"

मीठी बातें, झूठी प्रतिज्ञाएँ, भविष्य के लिए बड़े बड़े भरोसे आदि झाँसों में वकील साहब न आये तो हताश होकर टटोलूराम को ३००) देकर ही उनसे समझौता करना पड़ा। तीर्थ जी ने पुस्तकों का अधिकार-पत्र उनके नाम लिख दिया। उस काग़ज़ को जेब में रखकर ठंडी साँसें लेते हुए टटोलूराम अपने घर आये। रुपये निकल जाने का घोर दुःख था, यदि संतोष था तो यही कि अदालत में भण्डा न फूटने पाया, वरना हमेशा के लिये किरकिरी होजाती और फिर कभी कोई उल्लू न फँसता। अतएव इन मोलों यह सौदा बुरा भी नहीं रहा। उधर तीर्थ जी जो वकील साहब के साथ गये सो फिर इधर आने का कभी नाम भी न लिया और न हिन्दी में कभी कोई उनकी रचना ही पढ़ने को मिली।

चंबेली की एक कली

(लेखक—बिन्दु ब्रह्मचारी)

(१)

धर्मराज युधिष्ठिर के वंश का अन्तिम राजा क्षेमकर एक बार अपने उद्यान में टहल रहा था। साथ में सामन्त सित्र भी था। राजा भिन्न भिन्न पुष्पों की सुगन्ध का वर्णन करता जाता था। सब सुनकर सामन्त ने कहा-"राजन्। आपके इस सुविस्तृत उद्यान में पुष्प-वृक्षों का बहुत अच्छा सग्रह है सही, पर ब्रह्मगिरि पर जो चमेली की एक कली है उसकी सुगन्ध के सामने सब तुच्छ है। वह बहुत से रोगो की दवा है। एक बार वहाँ चलकर उसे देखने से आप स्वयं उसकी प्रशंसा करने लगेंगे।"

क्षेमकर—"क्या तुमने उसे अपनी आँखों से देखा है या लोगों के कहने-सुनने में आ गये हो?"

सित्र—"मैं वहाँ गया था और केवल इसलिए गया था कि मेरे मस्तिष्क का विकार दूर हो जाय। मेरा रोग तो जाते ही दूर हो गया पर मैं वहाँ महीनों ठहरा रहा। बड़ा ही रमणीक स्थान है।"

क्षेमकर—"तो उसका कुछ वर्णन करो।"

सित्र—"महाराज। एक तो वह अकेला पुष्पवृक्ष बहुत ऊँचे पर है, आकार-प्रकार में बहुत छोटा है। पृथ्वी से केवल पन्द्रह अंगुल ही ऊँचा है। उसमें एक ही कली है। पर न तो वह खिलती है और न मुरझा कर गिर ही जाती है। उसमे कभी भी

कोई दूसरी कली नहीं लगी और न इस समय है। उसकी सुगन्ध कोसों फैली हुई है। एक मणिधर सर्प उसकी रक्षा करता है। उसके भय से कोई भी उसके समीप नहीं जाता। उन्माद, जीर्णज्वर आदि घातक रोगों से पीड़ित रोगी उसकी सुगन्ध-मात्र से स्वस्थ हो जाते हैं"

क्षेमकर—"क्या और कोई पुष्पवृक्ष वहाँ है ?"

सित्र—"जी, नहीं। बहुत दूर पर एक चम्पककुञ्ज है, पर उसमें सामान्य गन्ध के अतिरिक्त कुछ विशेषता नहीं है। सब आ जा सकते हैं। मैं भी कई बार वहाँ गया और पहरों घूमता रहा। पर मुझे उनकी सुगन्ध रुचिकर न हुई।"

क्षेमकर—'सित्र जी ! मैं वहाँ चलूँगा और तुम्हें भी साथ ले चलूँगा। किसी युक्ति से सर्प को मारकर उस वृक्ष को उखाड़ लाऊँगा और अपने इस उद्यान में लगा दूँगा।"

सित्र—"महाराज ! भूलकर भी ऐसा विचार मन में न लाइये। जो इस इरादे से वहाँ गया है उसकी मृत्यु हो गई है। जैसे आप राजाओं के राजा हैं वैसे ही वह सर्पों का राजा है, उसका वध करना असम्भव है। ब्रह्मगिरि पर जब उसकी पूजा होती है तब वह दृश्य देखने योग्य होता है। मैंने भी एक दिन नागराज की पूजा की थी। सोमवार का दिन था। उसी दिन पूजा हुआ करती है। प्रातःकाल मैंने घुरस पर खड़े होकर प्रार्थना की- 'भगवन् ! मैं आज अपरान्ह में आपकी सपरिवार पूजा करना चाहता हूँ। मान्त्रिक के द्वारा बुलाये जाने पर अवश्य पधारें, तीसरे पहर मिट्टी के कटोरों में दूध लावा रक्खा गया। माँत्रिक ने पनस के पत्तों को जोड़कर गोवर को अनन्त भगवान की मूर्ति बनाई। अक्षत, चंदन, पुष्प आदि से अर्चन-वन्दन करके उसने शावरमंत्र का उच्चारण किया। डेढ़ दो दण्ड पीछे बड़ा ही सुन्दर मणिधरनाग

एक दूसरे नाग पर सवार हो कर आया। उसके पीछे बहुत से नाग थे। उनके बैठने के लिये आसन सजा हुआ था। जब नागराज अपने अपने आसन पर सवारी पर से उतर कर बैठ गया तब और सर्प भी अपने अपने आसन पर बैठे। फिर मान्त्रिक की प्रार्थना पर नागराज ने दूध-लावा का आतिथ्य स्वीकार किया। जब वह दूध पीने लगा तब अन्य नाग भी पीने लगे। इस प्रकार भोजन करके जब वे संतुष्ट हुये तब मांत्रिक ने उन्हे प्रणाम करके अपने अपने स्थान को जाने के लिए प्रार्थना की। फिर जिस प्रकार वे आये थे उसी तरह चले गये।"

क्षेमकर—"अच्छा, ऐसी बात है तो मैं केवल दर्शन के निमित्त चलूँगा, तैयारी करो, मैं शुभ मुहूर्त देखकर शीघ्र वहाँ जाने का विचार करता हूँ। एक ही बात की मुझे आशङ्का है कि मेरे एक पूर्वज ने सर्प-सत्र करके इस जाति का नाश कर डाला था, कहीं नागराज मुझे उनका वंशज समझकर कुपित न हो जायँ।"

मित्र—"शिव! शिव! ऐसी आशंका है! आर्य धर्मावतार! आपके पूर्वज और उनके पूर्वज अपनी कीर्ति-अपकीर्ति अपने अपने साथ लेते गए, अपने वंशधरों के लिये कुछ छोड़ नहीं गए। मैं तो समझता हूँ कि नागराज के मन में यह बात आएगी ही नहीं। आप चलिए, मैं भी साथ साथ चलूँगा। उस अद्भुत दृश्य को देख तो आइये। और कुछ नहीं तो आपका हृद्रोग ही दूर हो जायगा।"

क्षेमकर—"हाँ, हाँ, चलो कल ही चलें"

मित्र—"नहीं, नहीं, इतनी जल्दी क्या है? शुभ मुहूर्त पर चलिए।"

क्षेमकर—"अच्छा।"

(२)

परीक्षित नगर के बाहर आक्रीड़ के उत्तर सुविस्तृत मैदान में पाण्डवेन्द्र महाराजाधिराज क्षेमकर का दरबार लगा हुआ है। धर्माचार्य यतीन्द्र उपमन्यु जगद्गुरु के आसन पर विराजमान हैं। मन्त्रि-मंडल सामन्त-मंडल तथा पारद, खम, शक, बर्बर आदि जातियों के प्रतिनिधि भी उपस्थित हैं। राजधानी के निवासी नर-नारी सब एकत्रित हैं। राजसिंहासन पर आसीन महाराजाधिराज क्षेमकर ने कहा—"सज्जनो, आज अंतिम दर्शन है। नीलाकाश के नीचे यह पृथ्वी ऐसी ही बनी रहेगी। सरिताएँ इसी तरह बहती रहेंगी, सूर्य और चंद्रमा भी इसी तरह प्रकाश और जीवनदान किया करेंगे। सब कुछ ऐसा ही रहेगा पर मैं न रहूँगा। आज से शुद्ध क्षत्रिय-वंश का अन्त है। मैंने किसी राजकुमारी का पाणि ग्रहण इसलिये नहीं किया कि मेरे सेवा-धर्म में बाधा पहुँचेगी. मैं प्रजा का सेवक हूँ प्रजारञ्जन ही मेरा स्वाभाविक धर्म है। इसीलिए मैं जीता रहा। पर अब इस जीवन का एक प्रकार से अन्त ही समझिए। हृद्रोग मेरा प्राणान्त किए बिना नहीं रहेगा। मैं ब्रह्मगिरि पर जाता हूँ। सुनते हैं कि वहाँ चमेली की कली के प्रभाव से ऐसे रोग दूर हो जाते हैं। यदि यह रोग दूर भी हो गया तो मैं गङ्गातट का आश्रय लूँगा, फिर लौटकर यहाँ नहीं आऊँगा। इसलिए मैं राज्य की व्यवस्था कर देना और आपकी सेवा में अपने अनुमत की कुछ बातें निवेदन कर देना बहुत आवश्यक समझता हूँ। इसी हेतु से यह विराट आयोजन है। प्रार्थना यही है कि कृपा-पूर्वक अपने सच्चे सेवक की विनती साग्रह और सहर्ष सुनकर हृदय में स्थान देंगे।

सुनिए। आज से सार्वभौम साम्राज्य का अन्त हो जायगा। क्योंकि अब से योगी नहीं, योगभ्रष्ट राजकुलतिलक होंगे। उनका

आसन प्रजा के हृदय में न होकर पीठ पर होगा। विषय-सुख को ही सर्वोपरि समझेंगे और अपनी इन्द्रियों के स्वामी न होकर दास होंगे। कूट-नीति में ही उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होगी। वे छल-कपट का व्यवहार करेंगे। सारांश यह है कि आसुरी वृत्ति ही उनमें प्रधान रहेगी। वे प्रजा के सुख के लिये न जीकर अपने सुख के लिए जीएँगे। अस्तु, ऐसी दशा में, जब आध्यात्मिक शासन का पराभव हो रहा है, भौतिक शासन उपस्थित हो जायगा। अतएव मैं यही उचित समझता हूँ कि प्रजा शासन की बागडोर अपने हाथ में ग्रहण करे, अपने हिताहित का स्वयं विचार करके प्रजा-संघ द्वारा समूह-शक्ति से कार्य करे। क्या कला कौशल, क्या वाणिज्य-व्यापार, क्या कर्षण और शासन, सब पर प्रजा ही का स्वतः अधिकार रहेगा। राजकुल की प्रतिष्ठा के लिये प्रजा का इतना ही कर्तव्य है कि अपनी आय का षोडशांश भूमिकर के रूप में भूपति को प्रदान करे।

हमारे दक्षिण बाहु माण्डलिक नृपतिगण! मैं आज आप को पूर्ण रूप से स्वतंत्र करते हुए प्रजा-वर्ग को आपके हाथों में सौंपता हूँ। मैंने इन्हें बहुत प्यार किया है। 'ईति-भीति' को छोड़ कर इन्हें किसी का भय नहीं रहा है। आशा है कि आप भी इन्हीं की नींद सोयेंगे और जागेंगे। यह बात तभी सम्भव है जब आप अपने को प्रजा का सेवक समझेंगे अर्थात् जैसा मेरा भाव था वैसा ही व्यवहार करेंगे। राजनीति में विषमता क्षम्य है पर यह कड़ुवा फल न तो स्वयं खाना चाहिये और न दूसरों को खिलाना ही चाहिये। आपके सुख-विलास के लिए राजकीय क्षेत्र की आय कुछ कम नहीं है। उसे आप अपने उपभोग में लावें, वह इसी निमित्त है। पर प्रजा से प्राप्त धन को प्रजा-हित-साधनों में ही लगावें। यही विनीत प्रार्थना है। और एक बात। विग्रह और

संधि के अवसर पर रोष, ईर्ष्या, मद और मोह के वश न होकर प्रजा के धन का उपयोग उचित परिमाण में करें। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि कर-रूप मे प्राप्त धन प्रजावर्ग का शुद्ध रक्त है। उसे पानी की तरह बहाना महापाप है।

"लगाया प्रेम-पौधा आँसुओं से सींच कर हमने।
मेरा जीवन है भाई, आप इसको घास मत समझें।"

प्यारे पुरजन और इन्द्रप्रस्थ मण्डलान्तर्गत प्रजावर्ग! इतने दिन सेवा करके आज आपका सेवक विदा होता है। जो कुछ दुःख किसी प्रकार भी हुआ हो उसके लिए क्षमा करके अपना शासन आप करने के लिये कटिबद्ध हो जायँ। आज से आप ही राज्य के मालिक और सेवक दोनों हैं। आप अपने में से किसी योग्य व्यक्ति को जिसमें स्वाभाविक उपकार की वृत्ति हो, जो धर्मनिष्ठ हो, इन्द्रियजित हो, तपस्वी हो, धर्मनीति और राजनीति का मर्मज्ञ हो, प्रजापालन में विशेष रुचि रखता हो, जो ईश्वर को छोड़ कर और किसी से न डरता हो, जिसका जीवन अव्यवस्थित न हो, जो अघाशी न हो, ऐसे प्रमुख को राष्ट्रनायक बनाइए। उसी को मेरा उत्तराधिकारी समझिए और वेद-मन्त्रों द्वारा अभिषिक्त कीजिए। उसके आचार-व्यवहार को देखते रहिए। कदाचित् वह अपने धर्म से च्युत हो जाय, तो पहले सभा करके उसे समझाइए, जब न माने तब उसे पदच्युत करके दूसरे व्यक्ति को अपना नायक बनाइए। राज-सभा का संगठन जैसा चला आता है वैसा ही रहे, यदि आगे चलकर उसमें कुछ त्रुटि आजाय तो उसे भी आप बदल सकते हैं। राजकुल की प्रतिष्ठा के लिए इतना आप अवश्य करेंगे कि जब तक योग्य व्यक्ति मिल सकें तब तक उसी में से राष्ट्रनायक निर्वाचन करेंगे। पर इसका भाव यह नहीं है कि आप में से अन्य योग्य व्यक्तियों को अवसर न दिया

जाय। वे लोग उपनायक बनाये जायँ और उनकी प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसार उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य का भार उन पर डाला जाय। यदि आप उचित समझें तो इनके कार्य-काल की अवधि भी निर्धारित कर सकते हैं। अस्तु, मुझे दृढ़ विश्वास है कि आप मेरे बताए हुए मार्ग का अनुसरण करने के लिए तैयार हो जायँगे, वर्णाश्रम-धर्म रूपी सुदृढ़ प्राचीर के अन्तर्गत स्थिर जातीय दुर्ग की रक्षा समता, संतोष, दया और विवेकरूपिणी चतुरङ्गिणी-सेना के द्वारा करते रहेंगे और गो-ब्राह्मण, साधु और सती की पुकार पर सदा कान दिये रहेंगे।"

महाराजाधिराज क्षेमकर के उपदेश को सुनकर सभा स्तब्ध हो गई। राजा से रंक तक सब के नेत्रों में जल छलछला आया, सन्नाटा छा गया। केवल सिसकियाँ भरने की ध्वनि सुनाई देती थी। स्नेह-विह्वल यवन नरेश ऐंटियोकस ने सामने आकर, पाँच बार झुक कर वन्दना करके हाथ जोड़ कर कहा, "प्रजारक्षक, पृथ्वीपति, अनेक विरुदावली-विराजमान! आप सार्व-भौम साम्राज्य का अन्त करके जाते हैं; यह ठीक नहीं, आप हमें औरस उत्तराधिकारी दे कर जाइये। आप किसी राजकन्या से विवाह करें, हम सब के भाग्य से आप ही के समान आपका पुत्र होगा, उसे गद्दी पर बिठाकर आप वन को चले जायँ; तब हमें कोई अधिकार रोकने का नहीं है। पर सोचिए तो, आप क्या कर रहे हैं? आप सार्व-भौम एकच्छत्र साम्राज्य का अन्त कर रहे हैं, अब माण्डलिक राज्य स्वतन्त्र होकर आपस में लड़ने लगेंगे, आप की प्यारी प्रजा पर अत्याचार होने लगेगा, सब लोग मन मानी करने लगेंगे, निरंकुश शासन की प्रधानता हो जायगी। इसीलिए मैं आग्रहपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि आप विवाह करें और पुत्रोत्पत्ति के अनन्तर वन को जायँ।"

सम्राट् ने राजसिंहासन से उतर कर राजा ऐंटियोकस को हृदय से लगाया और कहा—"भाई! अब मुझे आज्ञा दो, रोको मत। जो कुछ तुम कहते हो, मैं सब समझता हूँ, पर क्या करूँ, कठिन रोग ने मुझे ऐसा करने के लिए विवश कर दिया है। सब लोग जानते हैं कि मैं पुस्तक लिख कर उसी की आय से रोटी खाता हूँ, प्रजा के धन को छूता तक नहीं, सो अब हृद्रोग के कारण मैं कुछ देर एक जगह बैठ कर लिख पढ़ नहीं सकता, तब विवश होकर मुझे प्रजा का अन्न खाना पड़ेगा। अपनी प्रतिज्ञा भंग करनी पड़ेगी। हाँ ब्रह्मगिरि पर जाता हूँ, यदि रोग छूट गया और कोई अन्य बाधा उपस्थित नहीं हुई, तो आप लोगों की सेवा में लौट आऊँगा। नहीं तो जो कुछ मैंने निवेदन किया है उसी के अनुसार·····" कहते कहते सम्राट् यवन नृपति के गले से लिपट गए।

ऐंटियोकस ने कहा, "राजन्! आप का यही त्याग तो दुराचारी को सदाचारी बनाता था, आपके सामन्तों और माण्डलिक नरेशों को अत्याचार करने एवं निरंकुश बनने से रोकता था। हाय! हाय!! आज आध्यात्मिक रीति से, आत्मिक बल से शासन करने का युग समाप्त हुआ। हाय, अब हमें अपने चरित्र से शिक्षा देने वाला सम्राट्, सब के मन को अपनी मुट्ठी में रखने वाला राज-राजेश्वर कहाँ मिलेगा?"

सम्राट् के नेत्रों में आँसू भर आए और वह चुपके से राज-सभा के बाहर हो गया और अश्वारूढ़ होकर सामन्त मित्र के साथ ब्रह्मगिरि के लिए रवाना हो गया।

लोग बड़ी देर तक प्रतीक्षा करते रहे। जब सम्राट् नहीं लौटे तब सबने यही निश्चय किया कि जब तक सम्राट् रोगमुक्त होकर नहीं आते तब तक जैसे चलता है वैसे ही चलता रहे।

(३)

जिस रात को महाराज क्षेमकर ब्रह्मगिरि पर पहुँचे उसी रात में चमेली की कली दक्षिणानिल के प्रथम स्पर्श से ही खिल गई और इतनी सुगन्ध विस्तृत हुई कि वायु-मण्डल भर गया। दूसरे ही दिन राजा का हृद्रोग जाता रहा! और वह प्रातःकाल घोड़े पर उस पुष्पविशेष के दर्शन के निमित्त गया। मित्र सित्र भी उसके साथ था। झुण्ड के झुण्ड सर्प स्वतन्त्रता-पूर्वक वहाँ विचर रहे थे; और वृक्ष के पास विकसित कली के ऊपर छत्रवत् फन काढ़े नागराज दीख पड़े। इस भयङ्कर दृश्य को देखकर सम्राट् ने सामन्त से कहा—"तुम किनारे यहीं खड़े रहो, मैं ऊपर जाता हूँ। यदि सर्प मुझे डस भी लेंगे तो कुछ परवा नहीं। मैं इसी के लिए आया हूँ।" यह कह कर क्षेमकर ऊपर चढ़ गए। सामन्त एक-टक देखता ही रह गया।

सप्तद्वीप पाण्डवेन्द्र क्षेमकर स्वभाव से ही निर्भीक थे। बिना आगा-पीछा सोचे धड़धड़ाते हुए चले गए। सर्पगण महाराज के लिये मार्ग छोड़ते गए। यहाँ तक कि वे वृक्ष के पास जब पहुँचे तब फणीश ने भी सिर झुकाया और दूर हट गया। राजराजेश्वर की दृष्टि पुष्प पर गड़ी हुई थी। उसने उस सौरभ-सम्पन्न पुष्पको भरपूर देखा, अच्छी तरह देखा। देखने से तृप्ति नहीं होती थी फिर मन में आया कि "इस पुष्प को तोड़लें और डेरे पर ले चलें। देखें फिर कोई कली निकलती है या नहीं। पर नागराज यदि रुष्ट हो गये तब! तब क्या करेंगे, डस ही न लेंगे। कुछ चिन्ता की बात नहीं। परिणाम चाहे जो कुछ हो, इस पुष्प को तोड़ना चाहिए।" इस प्रकार निश्चय करके उसने अपना हाथ बढ़ाया और पुष्प को तोड़ लिया पर तुरंत ही दूसरा फूल उसमे लग गया। यह देख कर वह विस्मित हुआ और फिर उस फूल को तोड़ लिया,

पर फिर दूसरा पुष्प उसमें लग गया । इस तरह उसने गिनकर एक सौ आठ फूल तोड़े, पर वृक्ष पुष्प-शून्य न हुआ। आश्चर्य यह था कि विकसित फूल की जगह वैसा ही खिला हुआ फूल ही लगता था; कली नहीं। चकित और स्थिर दृष्टि से वह उस अद्भुत वृक्ष और उसमें खिले हुए एक मात्र पुष्प को कुछ देर तक निहारता रहा, फिर तोड़े हुए पुष्पों को लेकर लौटा और अपने मित्र सित्र को लेकर बातें करता हुआ डेरे पर आया। दोनों मित्रों ने मिलकर स्नान, ध्यान, भोजन-विश्राम से निवृत्त होकर, उन अष्टोत्तर शत पुष्पों की एक माला तैयार की। संध्या हो चुकी थी और चन्द्रोदय भी हो चुका था। सित्र की इच्छा थी कि नागराज का पूजन करके उन्हें ही यह हार अर्पण किया जाय। पर सम्राट् क्षेमकर उसे पुष्प-वृक्ष ही पर चढ़ा देना चाहते थे। दोनों मित्रों में इस पर विवाद चल रहा था। इतने में एक बुढ़िया लकड़ी टेकती हुई आई और उसने चिल्ला कर कहा,—"मेरी झोंपड़ी क्या हुई ? मुझे सूझता नहीं, कोई राम का दुलारा दया करके मुझे झोंपड़ी में पहुँचा देता।"

बुढ़िया के आर्त्तस्वर को सुनकर सम्राट की स्वाभाविक वृत्ति उदय हो गई। किसी अबला का क्रन्दन सुनकर कोई क्षत्रिय कैसे धीर रह सकता है ? वे तुरन्त उठ खड़े हुए और वृद्धा के पास चले गए। सामन्त, इच्छा न रहने पर भी उसके साथ जाने के लिए विवश हुआ। क्षेमकर ने उसे वहीं रहने की आज्ञा दी और स्वयं अकेले गए। एक हाथ में गजरा और एक हाथ में तलवार लिए हुए वे बुढ़िया के पीछे पीछे चले गए। निर्जन मैदान में एक वृक्ष के नीचे वह अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ी में घुस गई। छत्रपति ने कहा—"बूढ़ी माता ! अब तुम अपनी कुटी में पहुँच गईं, मैं लौट जाता हूँ।"

वृद्धा—"नहीं नहीं, बेटा ! भीतर चलो !"

सम्राट् ने भीतर जाकर जो दृश्य देखा उसने उन्हें विस्मृत कर दिया। न बुढ़िया का पता और न झोंपड़ी का। वहाँ तो सुन्दर उद्यान में एक किशोरी रमणी हाथ में एक कटोरा दूध और झारी में पानी लिए खड़ी थी। छिटकी हुई चाँदनी में उसका सौन्दर्य बिखर रहा था। उस छवि पर राजा का मन न्योछावर हो गया। सुन्दरी ने बड़े भाव से आतिथ्य की सामग्री सामने रख दी और ग्रहण करने की प्रार्थना करती हुई वह अलग खड़ी हो गई।

क्षेमकर की दृष्टि उसकी छवि पर एकटक लगी हुई थी। उसे कुछ सोचने-समझने का अवकाश नहीं था। पर ज्योंही उस रमणी ने क्षीर ग्रहण करने की प्रार्थना दुबारा की त्योंही बिना कुछ विचारे क्षेमकर ने अपने हाथ का गजरा उसके गले में डाल दिया और मन ही मन कहने लगा—"अहो! यह अपूर्व सुन्दरी यहाँ कैसे आगई ? वृद्धा और उसकी झोपड़ी क्या हुई ? इस ललना ने मेरे मन को हर लिया। कैसे हर लिया ? इतनी अवस्था हुई आज तक मेरा मन किसी भी रमणी के रूप का गाहक नहीं हुआ, फिर कैसे यह एकाएक बहक गया ? कुछ कारण समझ में नहीं आता। मैंने किसी स्त्री से सम्भाषण नहीं किया। सो इस एकान्त कुञ्ज में इससे बातें करने के लिए मन में सैकड़ों स्पन्दन हो रहे हैं। और मेरी बेसमझी ऐसी कि गजरा बिना सकोच के उसके गले में पहना दिया। ये सब मेरे स्वभाव के विरुद्ध बातें क्यो हो रही हैं।" इस प्रकार विचारते हुए उसने वहीं बैठकर दुग्धपान किया। फिर क्या था ! कामरस नस नस में भर गया। शरीर की प्रौढ़ावस्था नव्य किशोरावस्था में परिवर्तित होगई। संयम की वृत्ति बदल कर चपलता में ढल गई उसने कहा

—"आपके उपहार से मैं संतुष्ट हुआ। पर आप का परिचय जाने बिना चित्त व्यग्र है। क्या अपनी सुधामयी वाणी से इस व्यग्रता को नहीं दूर करेंगी? मुझे बड़ा ही कुतूहल हो रहा है। अपना पूर्ण परिचय दीजिए। स्पष्ट कहिए कि आप कौन हैं? वृद्धा मुझे यहाँ लिवा लाई थी वह झोपड़ी समेत क्या हुई?"

उस रमणी ने कहा—"आपको मालूम नहीं कि मैं कौन हूँ।" अब भी आप नहीं समझ सके! अच्छा सुनिए, इस दृश्य की नटी, इस आश्चर्य-लीला की विधात्री मैं ही हूँ। आप इन्द्रजाल में फँस गए हैं, अब किसी तरह इससे निकल नहीं सकते। कहिए, अब समझा?"

क्षेमकर—"हाँ समझा। पर इस निरअपराध व्यक्ति को आपने क्यों इस जाल में फँसाया?"

रमणी—"चमेली के फूल तोड़े या नहीं! बस यही अपराध है।"

क्षेमकर—'ठीक है। अपराध अवश्य हुआ, पर क्या आपके दरबार में क्षमा के लिए स्थान नहीं है?"

रमणी—"है क्यों नहीं, पर अपराध अक्षम्य है, प्राणदण्ड ही इसके लिए उचित विधान है। हाँ, आप युधिष्ठिर के वंशज हैं और छत्रपति नृपति हैं, इसलिए कड़ाई से नहीं, नर्मी के साथ आपको दण्ड देने का निश्चय किया' है। पहला दण्ड तो यह है कि आपको भूलोक छोड़ देना होगा और अमरावती का भी त्याग करना होगा। दूसरा दण्ड यह है कि आपको पाँच बार चलितलोचना देवी को साष्टाङ्ग प्रणाम करना होगा, क्योंकि आपने स्त्री जाति का बड़ा अपमान किया है। आशा है कि आप सब बातें समझकर मन को कड़ा कर लेंगे।"

क्षेमकर—"अच्छा, जो दण्ड मिलेगा उसे भुगत लेंगे। इस समय बतलाइए कि 'चलित-लोचना' देवी कौन हैं जिन्हें मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करना होगा ?"

रमणी—"बात तो बताने योग्य नहीं है, पर देखती हूँ कि बिना बताए भी काम नहीं चल सकता। अच्छा, सावधानता-पूर्वक सुनिए, संक्षेप से सारी कथा कहती हूँ।—

"हेमाद्रि पर महर्षि बादरायण के शिष्य बौधायन ऋषि का आश्रम था। ऋषि ने महाप्रस्थान के समय कमलाक्ष नामक एक युवक तपस्वी को आश्रम का अधिष्ठाता बनाया। वे वहाँ रहने लगे और तपरूपी धन का सञ्चय करने लगे। तप के प्रभाव से उनका रूपवान् शरीर और भी दिव्य होगया और देवलोक की ललनाएँ आकर्षित होकर आने लगीं। पर तपस्वी ने किसी की ओर दृष्टिपात नहीं किया। निराश होकर सब लौट गईं परन्तु नागलोक की विभूति 'चलित-लोचना देवी' उस तपस्वी कुमार पर ऐसी आसक्त हुई कि वह उसके सामने से टलती ही नहीं थी। मुनि ने अपने को बहुत सँभाला पर अन्त में क्रोध की वृत्ति ने उदय होकर उनके तपरूपी धर्म को नष्ट कर दिया। तपस्वी ने झुँझला कर उस देवी को स्थावर योनि में पतित होने का शाप देदिया। भोगवती में हाहाकर मच गया। सब बहुत दुखी हुए। उसके पिता नागराज आवत्सकी के शोक का पारावार नहीं था। क्योंकि वे अपनी एकमात्र कन्या को बहुत प्यार करते थे। पर अब क्या होता ? जो होना था सो तो हो ही चुका। काल पाकर वही चलितलोचना ब्रह्मगिरि पर चमेली के रूप से उत्पन्न हुई और आप वे ही कमलाक्ष तपस्वी हैं जो तप के प्रभाव से राजकुल-तिलक हुए हैं। यही उस अबला की करुण कथा है। अब उसके उद्धार का समय आगया है। शाण्डिल्य मुनि ने नागराज

से कहा था कि "जब कमलाक्ष महाराजाधिराज क्षेमकर के रूप से ब्रह्मगिरि पर आवेगा तब उसी समय चम्बेली की एक-मात्र कली विकसित हो जायगी। उस समय मेरा ध्यान करना। मैं तत्काल प्रकट होकर उसका उद्धार कर दूँगा"। सो नागराज ने मुनि की आराधना की है। वे सूर्योदय के अनन्तर अवश्य पधारेंगे और उस देवी का उद्धार हो जायगा। चलित-लोचना मेरी अत्यन्त प्यारी सखी है। उसी के प्रेमवश मैंने माया रचकर आपको बुलाया है और सब बातें जनादी मैं। मुझे देखकर आप का चित्त अस्थिर होगया है और आपने प्रेम सूचक भाव भी प्रकट किए हैं। उन भावों को अपनी सखी की ओर से मैंने स्वी-कार किया है और पाणिग्रहण के समय बधाई दूँगी। अब आप अपने आवास पर जाइए। आपका मित्र सामन्त सित्र बड़ी उत्कण्ठा से आप की प्रतीक्षा कर रहा है। कल सवेरे ब्रह्मगिरि पर अकेले आइएगा। मैं वहाँ आपके स्वागत के लिए उपस्थित रहूँगी। जय अनन्त भगवान् की।"

इतना कहकर वह रमणी अन्तर्धान होगई। उद्यान भी अनन्त शून्य में विलीन होगया। सम्राट् सित्र से मिला और प्रेम-कहानी कहता हुआ डेरे पर पहुँचा। रात थोड़ी रह गई थी। बातें करते करते सवेरा होगया। झटपट नित्य क्रिया से निबट कर सखा से विदा हो वह ब्रह्मगिरि पर गया। नागराज के साथ ऋषि शाण्डि-ल्य के दर्शन हुए। ऋषि को राजा ने बड़े प्रेम से प्रणाम किया। शाण्डिल्य ने आशीर्वाद देकर अपने दाहिने पैर के अँगूठे से उस वृक्ष के मूल को स्पर्श किया। उसी समय एक अत्यन्त रूपवती कन्या प्रकट होगई। राजा उस छवि को देखते ही मूर्च्छित हो गिर पड़ा। मुनि ने उसे सावधान किया और अपने करकमलों से चलितलोचना का हाथ क्षेमकर को थमा दिया और उन्हें

भोगवती का सुख चिरकाल तक भोगने का आशीष देकर आकाश-मार्ग से चले गए।

फिर नागराज क्षेमकर को नागलोक में लिवा लेगए और वहाँ विधिपूर्वक दोनों का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। चलित-लोचना की सखी मधुरा ने हँसकर कहा—"अब पाँच बार मेरी सखी के चरणों में प्रणाम कीजिए तब विहार-कुंज में प्रवेश करने दूँगी।" क्षेमकर ने इस प्रेमहठ को स्वीकार करके ज्योंही शिर झुकाया कि चलितलोचना चरणों पर गिर पड़ी और राजराजेश्वर ने उसे उठा कर अङ्क से लगा लिया।

विमाता

(लेखिका—तेजरानी दीक्षित, बी० ए०)

प्रताप ! प्रताप !! मेरी इस अशान्ति के कारण तुम्हीं हो। जब मेरा विवाह होने वाला था तब मेरी सखियों ने कहा था, 'देखो ! प्रताप को अच्छी तरह रखना—उसे प्यार करना—अपना समझना, नहीं तो तुम्हें शान्ति नहीं मिलेगी" किन्तु अब देखती हूँ कि यदि मैं उसे प्यार न करती तो मेरी शान्ति नष्ट न होती। जब वह भोला बालक मुझे देखते ही 'माँ' कह कर दौड़ता है, मैं उसे गोद में ले लेती हूँ तब क्या अपराध करती हूँ ? नौकर-चाकर सब उसे खिला सकते हैं केवल मैं ही नहीं। क्यों ? क्योंकि मैं विमाता हूँ। क्या विमाता होने से ही मेरी सारी भावनायें विलीन हो गईं ? क्या मेरे हृदय नहीं है ? अच्छा होता यदि मैं नौकर ही होती। तब प्रताप को जी भर कर खिला तो सकती। आज उसकी बुआ उसे मेरे पास से छीन तो न ले जाती। उसकी बुआ के ये शब्द मेरे हृदय में चुभ गये, "भाभी ! यह दिखावा रहने दो। तुम प्रताप को जितना प्यार कर सकती हो, यह सब जानते हैं। तुम्हारे इस दिखावे से भय्या ही धोखा खा सकते हैं, मैं नहीं"। ओह ! उस समय का कितना हृदय-विदारक दृश्य था। प्रताप ने मेरे पल्ले को कस के पकड़ लिया था—उसकी आँखों से आँसू बहने लगे थे। परन्तु फिर भी उसकी बुआ न मानी और उसे छीन ले गई। मैं कुछ न कर सकी, केवल देखती रह गई। हृदय में आग धधक उठी, किन्तु

बाहर न निकल सकी-वह वहीं विलीन हो गई। केवल उसकी जलन के चिह्न-स्वरूप मेरी आँखें सजल हो गईं।

ता० १० अगस्त १९१८

कल जब से उसकी बुआ उसे मेरे पास से छीन कर ले गईं तब से सारा दिन मैं उसे नहीं देख पाई। किसी काम में मन नहीं लगा। तरकारी काटते समय कई बार मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि मानों प्रताप चुपके से मेरे पीछे आकर खड़ा हो गया है किन्तु जब घूम कर देखा तब कोई भी नहीं दिखाई पड़ा। अब धीरे धीरे शाम हो गई। मैं अपने मन को और न रोक सकी। चुपचाप उसको ढूँढने के लिये चल दी। वह अपने कमरे में चुपचाप बैठा था। उसका मुँह उतर गया था—मुझे देखते ही बोला—माँ! बड़ी जोर से भूख लगी है। मैंने जल्दी से अपने चारों तरफ देखा, फिर धीरे से उससे अपने कमरे में चलने के लिये इशारा किया। कमरे में जाकर मैंने दरवाजे बन्द किये, फिर एक सेब काट कर उसे खिलाने लगी। वह बड़े शौक से सेब के टुकड़े खाता और मुझसे बातें करता। थोड़ी ही देर में उसका मुरझाया हुआ मुँह खिल उठा। एकाएक अपनी सरल आँखें ऊपर उठा कर वह बोला:—माँ! मुझे लोग तुम्हारे पास आने के लिये क्यों मना करते हैं? मैं इसका क्या उत्तर देती? मैं स्वयं नहीं समझ सकती कि लोग उसे मेरे पास क्यों नहीं आने देते? मैंने उसे गोद में बैठा लिया और उत्तर में केवल यही कहा? "क्या जानूँ बेटा?" एकाएक मेरे कमरे का दरवाजा खटका और उसकी दादी की अवाज सुनाई पड़ी,—प्रताप—प्रताप! अवाज सुनते ही बालक भयभीत होकर इधर-उधर देखने लगा। मैंने भी डरते-डरते दरवाजा खोल दिया।

उन्होंने अन्दर घुसते ही लाल लाल आँखें निकाल कर प्रताप से कहा—' क्या कर रहे हो ? " प्रताप के हाथ का टुकड़ा हाथ ही में रह गया था। उसे छीन कर उन्होंने फेंक दिया और उसका हाथ पकड़ कर मुझसे बोलीं, " क्यों ! राक्षसी !! अब क्या चाल रचनेवाली है जो इस तरह दरवाजे बन्द करके प्रताप को सेब खिलाती है ? तेरी आँखों में यह बच्चा क्यों इतना खटकता है ? "

यदि आज को मैं इसकी माँ होती—विमाता न होती—तो क्या कोई मुझे सेब खिलाने के कारण राक्षसी कहता ? प्रताप मेरी आँखों में खटकता है या मेरी आँखों की ज्योति है, यह तो ईश्वर के सिवा और कौन जान सकता है ?

११ अगस्त १९१८

सुनती हूँ कल उसके पिता जी ने उसे पीटा—केवल इसलिए कि वह मेरे पास आकर सेब खा रहा था। मालूम नहीं, वे मेरे पास आने से उसे क्यों मना करते हैं ! यदि वह मुझे प्यार करता है—यदि वह उनके कहने पर भी मुझ से चिढ़ता नहीं, तो ये लोग उसे डाटते क्यों हैं ? हाय ! उस बेचारे नन्हे से बच्चे के कोमल शरीर पर मारने के लिए कैसे किसी का हाथ उठा होगा ? माना, उसके केवल एक थप्पड़ लगा परन्तु उसके लिए वही बहुत है। मैं कितनी अभागिनी हूँ कि अपने साथ दूसरों को भी दुःख में घसीटती हूँ। मेरा तो जीवन दुःखमय है ही फिर मैं अपने ज़रा से सुख के लिए उस भोले बालक के सुखों पर पानी क्यों फेरूँ ? जहाँ इतना दुख सहती हूँ वहाँ इतना और सही। अब उसे अपने पास आने के लिए मैं स्वयं मना कर दूँगी। बेचारा आफ़तों से तो बचे। जब लोगों को उसका मेरे पास आना पसन्द नहीं—जब इसके लिए उसे यातना भुगतनी पड़ती है तब फिर मैं स्वयं उसे अपने पास आने से रोकूँगी। मैं सब कुछ सह सकती हूँ, परन्तु जब मेरे पीछे उस

बच्चे पर डाट-फटकार पड़ती है तब मेरे लिए असह्य हो जाता है। उसकी भलाई के लिए मैं अपने इस रहे-सहे सुख को भी अब छोड़ दूँगी। अब मैं उसे अपने पास आने को मना कर दूँगी। भगवन्! मुझे बल दो जो मैं उससे मना कर सकूँ।

१२ अगस्त १९१८

आज आखिर को मैंने उसे मना कर ही तो दिया। शाम को उछलता हुआ वह आ रहा था। मैंने इशारे से उसे अपने कमरे में बुलाया। अपने चारों तरफ़ किसी को न देख, वह आ गया। मैंने उसे अपनी गोद में बैठाया। बात कहनी चाही पर मुँह से शब्द न निकले। थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करके मैंने कहा, "बेटा! तुम मेरे पास मत आया करो" मेरी बात सुनते ही वह चौंक पड़ा और बोला—"क्यो माँ! अब तुम भी मना करने लगीं? तो क्या सचमुच मैं तुम्हे अच्छा नहीं लगता?" हजारों उत्तर आ आ कर मेरे होठों से टकराने लगे, किन्तु क्या करती। उन उत्तरों को देने का समय नहीं था। हृदय पर मानों पत्थर रख कर मैंने अपने उठते हुए भावों को वहीं दबा दिया और बोली "हाँ!" इस एक अक्षर को बोलने में मुझे अपने भावों से कितनी लड़ाई लड़नी पड़ी थी! मैं कितनी हाँफ गई थी! वह अभिमानी बालक मेरा उत्तर सुनते ही चल दिया और मेरी तरफ बिना देखे ही कहता गया "अच्छी बात है। तो फिर अब तुम्हारे पास नहीं आऊँगा।" मेरे बच्चे, जाओ। तुम मेरे भावों को क्या समझोगे! तुम्हें क्या मालूम कि तुम्हें देखने के लिए मेरा जी कितना लालायित रहता है— तुमसे बातें करने की मुझे कितनी इच्छा होती है— किन्तु मेरी उसी इच्छा को कठोर समाज मुझे तुम्हारी विमाता बनाकर कितनी निर्दयता से पैरों से

कुचल रहा है ! प्रताप ! इतनी छोटी ही उमर में तुम इतने अभिमानी कैसे होगए ? क्या सचमुच तुम यही समझते हो कि तुम मुझे अच्छे नहीं लगते ?

१३ अगस्त १६१८

कल जब से मैंने प्रताप को अपने पास आने को मना किया तब से सचमुच वह अभिमानी बालक मेरे पास नहीं आया। उसे देखने के लिए मेरा जी कितना विचलित हो रहा है। सुनती हूँ, उसे बुखार आ गया है। मैं किस प्रकार उसे देखने जाऊँ ? लोग तो उसे मेरी परछाईं से बचाते हैं, मानो मेरी परछाईं में भी विष टपकता है। उसकी बुआ कहती हैं कि कल वह थक बहुत गया था, इसी से बुखार आ गया। हाँ ! वह तो यह कहेंगी ही। उन्हें बुखार का असली कारण क्या मालूम ? वह तो केवल मैं ही जानती हूँ। हाय ! यदि यह मैं पहले ही से जानती तो उसे कभी न मना करती। यदि मुझे मालूम होता कि मेरी 'हाँ' से उसके कोमल हृदय पर इतना आघात पहुँचेगा तो मैं भूल कर भी 'हाँ' नहीं कहती। उस दिन जब उसकी दादी ने मुझे 'राक्षसी' कहा था तब मुझे बहुत बुरा लगा था लेकिन अब देखती हूँ कि उन्होंने ठीक ही कहा था। मैं सचमुच ही राक्षसी हूँ, नहीं तो ऐसे सरल बालक को क्यों इतना सताती ? क्यों उसके पीछे हाथ धोकर पड़ जाती ?—हाय ! मेरे ही कारण बेचारे को बुखार आगया। अब मैं उसे देखने कैसे जाऊँ !

१४ अगस्त १६१८

मन नहीं माना। सारा मान-अपमान भूल कर मैं प्रताप को देखने गई। भाग्यवश उसके पास कोई नहीं था। मैं उसके कमरे

में घुस गई। ओफ! उसका छोटा-सा मुँह कितना पीला पड़ गया था। वह चुपचाप आँखें बन्द किये पड़ा था। कमरे में घुसते ही उसके मत्थे पर हाथ रख कर ज्वर देखा। स्पर्श होते ही उसने आँखें खोल दीं किन्तु मुझे देखकर उसने तत्क्षण आँखें बन्द कर लीं और करवट बदलने लगा। अपना अभिमान वह अभी तक भूला नहीं था। मैंने धीरे से पूछा—"कैसी तबीयत है?" उसने मेरी तरफ बिना देखे ही उत्तर दिया, "तुम क्यों पूछती हो?"-भला इसका उत्तर मैं क्या देती! मैंने केवल इतना कहा, "क्या कोई किसी की तबीयत नहीं पूछता है—प्रताप?" बहुत रोकने पर भी मेरी आँखों से दो बूँद आँसू निकल कर उसके हाथ पर गिर पड़े। अपने बाल-हृदय की सारी करुणा अपनी उन भोली आँखों में भर कर वह बोला—"अरी माँ! तुम रोती क्यों हो?"

वही स्नेहमिश्रित सम्बोधन! उसके मुँह से न मालूम क्यों 'माँ' शब्द इतना प्यारा लगता है! मैं अब अपने को और न रोक सकी, आँखों से बूँद बड़े वेग से टपकने लगे। वह भी मेरे पल्ले में मुँह छिपा कर रोने लगा! उस रोने में भी कितना आनन्द था! उसने रोते ही रोते कहा, "अब तो मुझे अपने पास आने को कभी मना न करोगी?" मैंने भी आँख पोंछते-पोंछते कहा—"नहीं बेटा!" अभी मैं बात पूरी भी नहीं कर पाई थी कि उसकी बुआ आ गईं। और आते ही उन्होंने मेरी तरफ एक कठोर दृष्टि से देखकर कहा, "तुम यहाँ क्या कर रही हो?" मैं चुपचाप कमरे से बाहर हो गई!

१९ अगस्त १९३८

आज मैंने कितनी भयानक खबर सुनी। ईश्वर करे वह

ग़लत हो। सुनती हूँ मेरे आने के बाद ही प्रताप की तबीयत बहुत ख़राब हो गई। उसकी बुआ ने आकर कितनी दीनता से मुझ से कहा था, "भाभी! सच बताओ तुमने उसे क्या चीज़ दे दी है। बहुत पूछने पर भी वह कुछ नहीं बताता। तुम मेरे ऊपर इतनी दया करो। तुम्हारे बताने से अब भी वह बच जायगा! देखो! वही इस घर का उजाला है। यदि वह न रहा तो भय्या तुम्हारा मुँह भी न देखेंगे।" मैंने शपथ-पूर्वक कहा, "मैंने कोई चीज़ नहीं दी।" किन्तु इस पर विश्वास कौन करता है? वे बड़बड़ाती हुई चली गईं। माना, कल मैं उसे देखने चली गई थी किन्तु इससे उन्होंने यह कैसे समझा कि मैं उसे 'कोई चीज़' दे आई। 'कोई चीज़ क्या है, यह समझने में मुझे देर न लगी। क्या मैं ऐसी अभागिनी हूँ कि मैं अपने एक-मात्र पुत्र को-उसी प्रताप को जिसके लिए में सदा व्याकुल रहती हूँ—ज़हर दूँगी! ओफ जिसको सोचते ही हृदय काँप उठता है उसे क्या कभी में कार्य्यरूप में परिणत कर सकती हूँ? संसार भी क्या है? होगा? मैं संसार को सोचूँ या प्रताप को? परन्तु अब ऐसे संसार में रह कर क्या करूँगी। कल ही अपने जीवन का अन्त कर दूँगी। परन्तु भरसक पहले एक बार मैं स्वयं जाकर देखूँगी कि इसकी कैसी तबीयत है। चाहे वे लोग मेरे बाल पकड़ कर मुझे कमरे से बाहर कर दें परन्तु मैं उसे एक बार देखने के लिए अवश्य जाऊँगी।

अब तो थोड़ा ही समय है, चलूँ! प्रताप को जी भर देख लूँ।

प्रताप सो रहा है। इसके पिताजी, दादी, बुआ सब यहीं सो रहे हैं। केवल मैं बाहर निकाल दी गई थी। अब अपने प्रताप को मन भर के गोद में खिला लूँ। पर कहीं ये जाग पड़े

लो ! इसे अपने कमरे में ले चलूँ। अब देर न करूँगी। दरवाजा बन्द कर लूँ। किन्तु यह क्या ? प्रताप की आँखें कैसी हो गईं ? उसके हृदय की धड़कन का तो कहीं पता नहीं चलता—हाय ! हाय !! यह क्या हुआ ? मेरा प्रताप कहाँ चला गया ? ओ दादी—प्रताप की बुआ—उसके पिता जी ! देखो ! देखो !! ओफ़ ! सिर में चक्कर आ रहा है—जान पड़ता है, जहर चढ़ आया है। चलो प्रताप ! हम दोनों एक साथ ही उस लोक में चलें वहाँ कोई हम दोनों को नहीं सतायेगा। आओ ! तुम्हें अपनी गोद में कस के पकड़ लूँ—अब नहीं—अब नहीं—प्रताप प्र...ता...प......प्र—ता......

मालगोदाम में चोरी

(लेखक—गोपालराम गहमरी)

(१)

आज डुमराँव स्टेशन से राज-असाँव तक बड़ी धूम है। ट्राफिक सुपरिन्टेन्डेन्ट के दफ़तर से तार पर तार चल रहा है। दीनापुर से डुमराँव तक सिग्नेलरों का नाकों दम है। एक खबर (मेसेज) फारवर्ड होवे देर नहीं कि दूसरे के लिए तारबाबू टेलिग्राफ इन्स्ट्रूमेण्ट पर रोल करते हैं। डी० टी० एस० के आफिस से एक को मंसूख करने वाला, दूसरा फिर उसको कैंसल करने वाला, तीसरा, इसी तरह लगातार आर्डरों का तार लग रहा है। होते होते कोई बीस घण्टे के बाद ट्राफिक सुपरिन्टेण्डेण्ट के यहाँ से स्टेशन मास्टर का तार आया कि मालगोदाम जैसे का तैसा बन्द रखो, जासूस जाता है। बस अब सब लोग अपने मन की घबराहट मन ही में दबाये जासूस की राह देखने लगे।

इधर नगर भर में कोलाहल मचा। बिसेसर हलवाई अपनी दूकान पर बैठा पंखे से मगदल की मक्खी हाँकता हुआ कहने लगा—"दादा, इसी स्टेशन में मिठाई बेचते बाल पके लेकिन ऐसी चोरी किसी बड़े बाबू के वखत में नहीं हुई। ताला चाभी सब बन्द का बन्द और भीतर से गाँठ गायब!"

मगदल खरीदनेवाला कहता है—"कहो बिसेसर! जब चाभी बाबू के पास रही तब दूसरा कौन चुरा सकता है?"

हलवाई—"चाभी रहती है तो क्या बाबू पहरा देते हैं ? अरे जब गाड़ी आयी, पसिञ्जर से पार्सल उतरा तभी खलासी चाभी उनसे माँग लाता है और आप खोलकर पार्सल रखता और बन्द करके चाभी बाबू के हवाले करता है। खलासी अगर निकाल ले तो बाबू लोग क्या करेंगे ?"

ग्राहक—लेकिन भई, लोग कहते हैं मन भर से भी कम की गठरी थी तब उसमें पाँच हजार के कपड़े कैसे बन्द थे ?"

दूकान के सामने ही कड़ाही मलता हुआ मुसवा कहार आँख बदल कर और हाथ मटका कर कहता है—"अरे तुम भी घच्चू हो कि आदमी ! गाँठ में हमारे तुम्हारे वास्ते खारूआँ मारकीन थोड़े रहा। महाराज के घर सादी है, कलकत्ता से रेशमी कपड़ा साल दुसाला, लोई अलुयान उसमें चलान हुआ रहा कि खेल है, कितने ही हजार का तो उसमें रेसम रेसम भरा रहा।"

हल०—"अरे हजार लाख पर कुछ अचरज नहीं, न चोरी जाना अचरज है। बात यह कि बाहर से ताला बन्द का बन्द और भीतर गाँठ नदारद है। उस रोज बाबू कहते हैं रात को पसिञ्जर से एक सन्दूक और गाँठ दो ही तो उतरा था। उस घर में और कोई माल नहीं था। लेकिन सवेरे देखा गया तो उस में से कपड़े की गाँठें नदारद है और सन्दूक जैसी की तैसी जहाँ की तहाँ पड़ी है ! जहाँ गाँठ थी वहाँ कुछ खर, कुछ ईंट और एक लम्बा पत्थर पड़ा मिला।"

इतने में एक दाई माथे पर जल भरा घड़ा लिए हलवाई की दूकान में आई और सिर से उतारते उतारते बोली—"ए दादा, कवन तो पुलुस वाला बड़ा साहब आया है। सब सिपाही दरोगा उसके आगे हाथ जोड़ कर सलाम करने गये। कुलदिपवा कहत रहा कि कलकत्ता से पुलुस का बड़ा साहेब आया है। यही सब

का मालिक है। उधिर महल में मारे अमला फैला के खमखम हो रहा है।"

विसे०—"अरे नहीं रे पगली! जासूस आने को रहा, वही आया होगा। अभी मालगाडी गई है न, उसी में आया होगा। कल सवेरे ही उसके आने की खबर आया रही।"

ग्राहक—'जासूस कैसा?"

विसे०-जासूस लोग यही पुलीस वाले होते हैं। यहाँ की यह पुलीस जैसी वरदी पहनती है वह लोग वैसा नहीं पहनते। वह बिलकुल सीधे सादे रहते हैं। उनका चपरास भी कमर में होता है। कोई देखकर नहीं पहचान सकता कि वह लोग पुलीस वाले हैं। देख रे सुखना, जरा दूकान देख, तो मैं भी देख आऊँ।"

इतना कहता हुआ हलवाई अपने लडके सुक्खन को दूकान सौंप कर स्टेशन को चला। वहाँ मालगोदाम के दरवाजे पर लोगों की भीड भाड देखी। दो कानिस्टबिल बाहर लोगों को अलग करने में लगे हैं। मालगोदाम का दरवाजा खुला है। स्टेशन मास्टर चौकीदार और चार खलासियो के साथ भीतर एक बाबू को सब दिखा रहे हैं।

वह बाबू मालगाडी से अभी उतरा है। गाडी से उतरते ही मालगोदाम में जाकर देखा तो वहाँ एक ओर कुछ पयार पड़ा है, कुछ ईंट और एक पत्थर की पटिया पड़ी है।

मालगोदाम भीतर बहुत साफ है। अभी दो ही रोज हुए ऊपर सफेदी की गई है। कमर से ऊपर की ऊँचाई तक चारो ओर की दीवारो में काला अलकतरा पोता गया है। वह अब सूख चला है। धरती पर खूब साफ है लेकिन जहाँ पत्थर, ईंट और खर पड़ा है वहीं सफाई नहीं है। बाबू ने कमरे को अच्छी तरह देख कर स्टेशन मास्टर से कहा-"अच्छा, आप अपने आदमियों

के साथ बाहर जाइये। मैं थोड़ी देर तक इस गोदाम का दरवाजा बन्द करके भीतर बैठूँगा।"

यही बाबू ट्राफिक सुपरेन्टेण्डेन्ट के भेजे हुए जासूस हैं। जैसा उन्होंने कहा स्टेशन मास्टर ने वैसा ही किया। सब खल्लासी और चौकीदारों के साथ वह बाहर हो गए। बाबू ने दरवाजा लगाकर भीतर देखना शुरू किया। मकान की एक एक ईंट पर सनीचर की दीठ से देखने लगे।

देखते देखते दीवार पर एक जगह नज़र पड़ी। जान पड़ा कि वहाँ का रंग किसी ने पोंछ लिया है। बाबू ने पास जाकर देखा तो मालूम हुआ कि थोड़ी जगह का रंग किसी ने कपड़े से पोंछा है। उसके दाहने बायें भी पाँचों उँगलियों के दो जगह निशान मिले। बाबू ने अकचका कर देखा। चेहरे का रङ्ग बदल रहा था, थोड़ी देर बाद आपही आप बोल उठे—' चोर शाला जल्दी में दीवार पर गिरा है। पीठ उसका रङ्ग में चफन गया है। उसको सँभालने के वास्ते उसने दोनों हाथों से दीवार का सहारा लिया है, इसी से उँगलियों के साथ हथेली दीवार पर जोर से पड़ी है और दोनों हाथों का निशान बीच में कमर के दाहने बायें उखड़ आया है। वहीं बड़ी देर तक खड़े खड़े बाबू साहब देखते रहे। खूब अच्छी तरह देखने पर मालूम हुआ कि उसके बायें हाथ की सब से छोटी उँगली टूटी है या कट गई है। उसका निशान बहुत छोटा है। बाक़ी सब उँगलियो का निशान ठीक है।

बाबू ने जेब से एक पाकिट बुक निकालकर यह बात नोट करली। फिर उनकी नज़र आगे पीछे दाहने बाये चलने लगी। दरवाजे के सामने की दीवार में दूसरा दरवाज़ा है। स्टेशन मास्टर से मालूम हुआ कि वह सदा बन्द रहता है। इस वक्त रोशनी आने के लिये बाबू ने उसी को खोल रखा है। उसी की

रोशनी में बाबू यह सब देख रहे हैं। नोट करने वाली पेंसिल एक हाथ में और नोट बुक दूसरे हाथ में अभी मौजूद है। बाबू की नजर जो बन्द दरवाजे पर पड़ी तो एक दम चेहरा खुश हो गया। किवाड़ के पास जाकर देखा तो एक पर दो जगह पाँच उँगलियों का अलकतरा पोंछा गया है। दूसरे पर धोती का रङ्ग घिसा गया है। कितना ही घिसा जाय लेकिन छूटा नहीं है, तो भी बायें हाथ की उँगलियों का निशान देखने से बाबू का चेहरा खिल उठा। उसने देखा तो उसमें भी छोटी (कनिष्ठका) उँगली का छोटा सा निशान है।

डिटेक्टिव ने मन में कहा "चोर चाहे जो हो, लेकिन जो वहाँ दीवार पर गिरकर दोनों हाथों से सँभला है उसी ने अपनी धोती और दोनों हाथ का अलकतरा किवाड़ पर पोंछा है। और उसके बायें हाथ की छोटी उँगली कटी है या टूटी है।"

बस, इसके सिवाय उस गोदाम में और कुछ भी काम की चीज जासूस ने नहीं पाई। ईंट पर कोई खास निशान नहीं, न पत्थर से चोर का कुछ पता चलने वाला था। खर जो बहुत सा पड़ा था उसको इधर उधर उलटा तो उसमें दो कागज पाये; एक पोस्टकार्ड और एक हिन्दी का अखबार।

अखबार का नाम 'भारतमित्र' देखकर डिटेक्टिव ने आपही आप कहा—"यह खबर का कागज कलकत्ते का है।" और पोस्टकार्ड पढ़ा तो हिन्दी में लिखा था। लिखने वाले ने बनारस के शिवाला डाकघर से छोड़ा था। उस पर डाकखाने की मुहर थी। कलकत्ता पहुँचने की तारीख जब मुहर में डिटेक्टिव ने देखी तब उसने कहा—"चिट्ठी देखने में जैसी पुरानी मालूम होती है तारीख से वैसी नहीं है।" पते की तरफ पढ़ा तो लच्छन कहार C/O सुगनचन्द सोहागचन्द नं० ३७

काटन स्ट्रीट कलकत्ता लिखा है। लेकिन चिट्ठी मुड़िया मारवाड़ी में लिखी थी, बङ्गाली बाबू से पढ़ी नहीं गई। अब उसे जेब में रख कर उस बड़े कागज को देखने लगे। ऊपर ही बड़े बड़े अक्षरों में 'भारत मित्र' छपा देखा। उसी के नीचे हाथ से किसी ने लाल रोशनाई से ' भारत मित्र ' छोटे-छोटे हरफों में लिखा था। डिटेक्टिव ने उलट-पुलट कर अच्छी तरह देखा, लेकिन और कुछ भी काम की बात उसमें नहीं पाई। निराश होकर चाहता था कि मोड़ कर उसे भी जेब के हवाले करे लेकिन मोड़ने से पहले ही कागज पर एक ऐसी जगह जासूस की नजर गई जहाँ हाथ से अङ्गरेजी में कुछ लिखा हुआ दीख पड़ा। मालूम हुआ कि किसी ने उस पर सुगनचन्द सोहागचन्द नं० ३७ काटन स्ट्रीट कलकत्ता लिखा है। " जिसकी चिट्ठी है उसी का अखबार भी है, लेकिन अँगरेजी जिसकी लिखी है वह अभी हरफ बनाना सीखता है। " कहते हुए जासूस ने कागज जेब के हवाले किया। अब गोदाम में और कुछ काम की चीज न पाकर बाहर आया।

(२)

बाहर स्टेशन मास्टर बेञ्च पर बैठे डिटेक्टिव की राह ताकते थे। जासूस ने उनको पाकर पूछा—"आप कहते हैं कि रात को गोदाम में दो पारसल थे सो वह सन्दूक कहाँ है ? "

स्टे० मा०—"सन्दूक तो जिसकी थी वह ले गया। "

जा०—"उसकी डेलीवरी आप ही ने की है ? "

स्टे० मा०—" नहीं, असिस्टेण्ट स्टेशनमास्टर ने की है। लेकिन उसमें कुछ सन्देह की बात नहीं है। जैसा ताला बन्द था वैसा ही पाया गया है। चाभी स्टेशनमास्टर आन ड्यूटी के पास ही थी। उसी ने सन्दूक की डेलीवरी देने के लिए गोदाम

खोला तो सन्दूक़ मिली, लेकिन कपड़े की गाँठ नहीं थी। उसकी जगह पर ईंट पत्थर मिला। जाने गाँठ को कोई भूत उठा ले गया या जिन उड़ा ले गया।"

जा०—"हाँ उस जिन को तो मैं समझ चुका हूँ। आप अपने स्टेशन के सब नौकरों को बुलाइये। मैं सब की सूरत देखूँगा।" तुरन्त ही स्टेशन मास्टर ने हुक्म दिया, खलासी सिगनलमैन, चौकीदार, असिस्टेण्ट, सब जासूस के सामने हाज़िर हुए। सब के कपड़े और उङ्गली देखने पर भी उस टूटी उँगली वाले का पता नहीं चला। तब सब को छोड़कर जासूस स्टेशन मास्टर को अलग ले गये और पूछा—"आपके स्टेशन में ऐसा कोई आदमी आता जाता है जिसके बायें हाथ की उँगली टूटी हो?"

स्टेशन मास्टर ने कहा—"नहीं साहब, ऐसा तो कोई आदमी यहाँ नहीं आता।"

जासूस ने उनसे अपने मतलब की कोई बात पाने का भरोसा न देख कर असिस्टेण्टों का पीछा किया। जिसको ड्यूटी में पार्सल आये थे और जिसने डेलीवरी दी उनसे अलग-अलग दो बार मिलकर सब बातें पूछने से मालूम हुआ कि कपड़े की गाँठ पार्सल में और सन्दूक लगेज में आई थी। सन्दूक बड़ी लम्बी चौड़ी और खूब ऊँची थी। लगेज-रसीद लेकर दूसरे दिन जो आदमी माल छुड़ाने आया था वह एक भले आदमी की सूरत का था। उसको बाबू ने पहले कभी डुमराँव में देखा था सो याद नहीं है। कभी की मुलाक़ात न होने पर भी बड़ी भलमनसाहत और नरमी से बोलता था। एक गौ-गाड़ी पर कई कुलियों से अपना माल चढ़ा कर ले गया। 'सन्दूक बहुत लम्बी

चौड़ी है' कहने पर कुलियों से उसने बयान किया—"मुसाफिर आदमी है। सब कपड़ा लत्ता, बरतन-बरतन इसी में रखता है। इसी से इतनी बड़ी सन्दूक है।"

जिन कुलियों ने सन्दूक गोदाम से ले जाकर बैलगाड़ी पर चढ़ाई थी उनसे घुमा-फिरा कर पूछने पर मालूम हुआ कि वह सन्दूक वाला डुमराँव में पहले पहल आया था। राजा साहब के यहाँ नौकरी करने के इरादे से दूसरे रोज दरबार में जायगा। अभी कोई किराये का मकान लेकर ठहरेगा। सन्दूक बहुत बड़ी है। सब सामान साथ में रखता है। अगर जल्दी कोई किराये का मकान भी नहीं मिले तो बस्ती में किसी पेड़ के नीचे ठहर कर दो एक दिन काट सकता है। कुलियों ने यह भी कहा कि नहीं ऐसी तकलीफ नहीं होगी। यहाँ लोगों को ठहरने के वास्ते सराय बनी है। वह वहाँ चाहे तो ठहर सकता है।

इतना हाल मालूम करने पर जासूस मन ही मन सब बातों पर विचार करने लगा। उसके मनमें इतनी बातें उठीं:—

१—बड़ा पेंचदार मामला है। गोदाम के दोनों दरवाजे बन्द हैं। कहीं कोई खिड़की जंगला भी नहीं है, फिर चोर कहाँ से आय?

२—चोर नहीं आया तो क्या छोटे ही बाबू ने चुराया? लेकिन उस गोदाम की चाभी उसी के पास थी। जो उसका मालिक है, जिस पर उसकी जवाबदेही है, जिसके पास उसकी चाभी है, वह तो कभी चुरा नहीं सकता।

३—चोर तो भीतर जरूर घुसा है। उसके बायें हाथ की छोटी उंगली टूटी थी यह भी मालूम हुआ, लेकिन किधर से घुसा और किधर से गया। फिर गाँठ का गाँठ उड़ा ले गया।

४—और अकचकाहट की बात यह है कि गाँठ के बदले ईंट पत्थर और खर रख गया। यह अजब गोलकधन्धारी की बात है। चोर अपने साथ ईंट पत्थर और पयार कहाँ से और क्यों लाया था और माल चुरा कर यहाँ रख जाने का क्या मतब है?

५—पयार में दो कागज़ मिले। दोनों सुगनचन्द सुहागचन्द से मतलब रखते हैं। लेकिन कार्ड पर लच्छनलाल केअर आफ सुगनचन्द सोहागचन्द लिखा है। क्या जानें यह महाजन कुछ इसका भेद जानता हो। लेकिन इस गाँठ का भेजने वाला यही सुगनचन्द सोहागचन्द है तब वह तो चोर हो ही नहीं सकता।

६—अगर सुगनचन्द सोहागचन्द ही चोर हो तो गाँठ क्या जादू की थी जो यहाँ तक आई और मालगोदाम से गायब हो-गई? इसका कुछ भेद नहीं मिलता।

७—सन्दूक का मालिक तो इसमें कुछ चालाक नहीं मालूम देता। कुली से लेकर बाबू तक उसकी बड़ाई करते हैं। वह पहले-पहल डुमराँव में आया है, इतनी बात कुछ सन्देह की है। लेकिन इसके वास्ते इस सुगनचन्द महाजन को हाथ से छोड़ना ठीक नहीं है।

८—पहले उस महाजन को देखना और फिर लच्छनलाल की चिट्ठी पढ़ना चाहिये। क्या जाने उससे कुछ काम बने।

९—यह काम महाजन का तो नहीं है क्योंकि भेजने वाला वही है। अगर गाँठ में ईंट पत्थर भेज कर महाराज को ठगना चाहता तो मालगोदाम से गाँठ गायब होने का क्या मतलब है? किसी तरह महाजन पर सन्देह नहीं जाता' लेकिन लच्छन अलबत्ता लच्छनदार मालूम होता है।

१०—चोर चाहे कोई हो, वह भेद् है। गाँठ का हाल जानता था। बाहर का चोर हर्गिज नहीं आया।

११—लेकिन जानिवकार चोर बाबू के सिवाय और किसी को नहीं कह सकते और ऐसी हालत में बाबू को चोर समझते भी कलेजा काँपता है।

१२—जो हो, बात बड़ी पेचदार है। चोर बड़ा ही चालाक है, उसने अपनी चतुराई से मामले के चारों ओर ऐसी मोरचेबन्दी की है कि बुद्धि को घुमने की साँस नहीं दीखती।

इसी तरह आगे पीछे, दहने-बायें सब सोच-विचार करके पीछे जासूस स्टेशन मास्टर से मिला और मन की मन ही में दबा कर कहा—"अब हम जावेंगे।"

स्टेशन मास्टर ने कहा—"जाने के वास्ते तो डाकगाड़ी बक्सर छोड़ा है। आप उसी में जा सकते हैं। लेकिन इस चोरी का कुछ कूल-किनारा आपने पाया या अँधेरे का अँधेरे में ही रहेगा?"

जा०—"अभी आप इसकी कुछ बात मत पूछिये, एक जरूरी काम के वास्ते कलकत्ते जाता हूँ। वहाँ से लौट कर आप से मिलूँगा।"

स्टे० मा०—"अच्छा आप जाइये, लेकिन बाबू साहब! इतना हम कहेंगे कि स्टेशन मास्टरी में मैं बूढ़ा होगया। अब मरने का दिन पास आया है, लेकिन ऐसी चोरी कभी देखी न सुनी।"

जा०—"हम को यह चोरी कुछ चक्करदार मालूम होती है, लेकिन इतना हम कहते हैं कि चोरी करने वाला कोई पक्का खिलाड़ी है। वह भेदी है, भीतर का हाल जानता था, बाहर से चोर नहीं आया।"

स्टे० मा०—"लेकिन गाँठ की जगह ईंट पत्थर कहाँ से रख गया ? वह भी ऐसे कि इस तरफ की ईंटों से नहीं मिलतीं, पत्थर पर भी पेटेण्ट स्टोन खुदा हुआ है। ऐसा पत्थर भी हमने कभी नहीं देखा था।"

जा०—"आप कभी कलकत्ते नहीं गये ?"

स्टे० मा०—"नहीं कलकत्ते तो नहीं गया। कई पुश्त से मैं मेमारी में रहता हूँ।"

जा०—"इसी से पत्थर आपके लिये नया मालूम हुआ। ऐसी ईंटें कलकत्ते में बहुत काम आती हैं।"

स्टे० मा०—"तो कलकत्ते से क्या गाँठ में बन्द करके यही सब आया था ?"

जा०—"यह सब अभी आप मत पूछिये। लौट कर मैं सब बतलाऊँगा।"

स्टे० मा०—"अच्छा आप और सब लौट कर बतलाइयेगा लेकिन यह जो कहा कि चोर बाहर से नहीं आया इसका मतलब मैंने नहीं समझा। बाहर से आपका क्या मतलब ? चोर स्टेशन के आदमियों से बाहर का नहीं है या गोदाम के बाहर से नहीं आया ?"

जा०—यह भी गूढ़ बात है। अब गाडी आती है, बाकी बात लौटने पर।"

इतने में घंटी बजी। गाड़ी इन साइट हुई। उसी पर सवार होकर जासूस कलकत्ते को रवाना हुआ।

(३)

कलकत्ता पहुँच कर जासूस सुगनचन्द सोहागचन्द से मिला, महाजन से मालूम हुआ कि वह अखबार 'भारत मित्र' मँगाया

करता है लेकिन उसको पढ़ लेने के बाद कौन कहाँ ले गया इसकी खबर नहीं रखता। पोस्ट-कार्ड भी कब आया, किसके पास आया, इसका कुछ हाल मालूम नहीं है। लच्छन नाम का एक कहार उस कोठी में नौकर है, वह कई रोज़ से बीमार होकर अपने चाचा के यहाँ गया है। उसका चाचा कहाँ रहता है, इसका पता महाजन से नहीं मालूम हुआ।

जासूस ने मन में कहा कि लच्छन को जो डुमराँव ही में मैंने लच्छनदार समझा था सो सचमुच वही चोर है क्या? फिर थोड़ी देर तक कुछ सोच कर महाजन से पूछा "तो उस कहार का काम कौन करता है?"

महा०—"काम के वास्ते तो उसी ने अपने जान-पहचान के एक आदमी को यहाँ कर दिया है। वह भी उसका कोई नातेदार ही है। लेकिन आप यह सब क्यों पूछते हैं सो तो कहिये?"

जा०—"मेरे पूछने का मतलब आप नहीं जानते। आपके यहाँ से कुछ माल डुमराँव को चालान हुआ है?"

महा०—"हाँ चालान तो हुआ है लेकिन सुनते हैं वह तो गाँठ की गाँठ ही किसी ने चुराली है।"

जा०—"हाँ चुरा तो ली है और उसकी जगह पर ईंट पत्थर रख गया है।"

महा०—"यह तो बड़े अचरज की बात है। डुमराँव में भी कलकत्ते के बदमाश पहुँच गये हैं क्या?"

जा०—"देखिये कहाँ का बदमाश गया है सो तो मालूम ही हो जायगा लेकिन चोर बड़ा चालाक है।"

महा०—"हम भी इस चोरी का सब हाल सुन कर अकचका गये। ताला बन्द और गाँठ गायब। डुमराँव का स्टेशन भी तो कलकत्ता हो रहा है।"

अब पोस्टकार्ड पढ़ाने से मालूम हुआ कि लच्छन के बाप को लिखा है। पन्द्रह दिन में रुपया भेजने को कहता है।

"अच्छा अब जाता हूँ फिर जरूरत होने पर मिलूँगा" कह कर जासूस कोठी से उतर कर चलता हुआ।

डेरे पर पहुँच कर जासूस ने चिट्ठी बाँटने वाले पोस्ट-प्यून का रूप बनाया। कमर में चपरास और सिर पर दुरंगी पगड़ी रक्खी। कन्धे में तोबड़ा लटका कर खासा डाक-प्यून बन गया। हाथ में छाता लिये ग्यारह बजते बजते सुगनचन्द सोहागचन्द की कोठी पर पहुँचा। इस बार ऊपर न जाकर नीचे ही रहा। पानी के कल पर वह कहार बरतन मलता मिला। सामने दो कनस्तरों में पानी भरा था।

चिट्ठी बाँटने वाले का रूप बनाये हुए जासूस ने उस कहार से पूछा—"क्योंजी, लच्छन कहार तुम्हारा ही नाम है?"

कहार—"काहे को, कोई चिट्ठी है?"

डाक प्यून—"चिट्ठी तो नहीं है, रुपया उसके नाम बनारस से आया है।"

क०—"तो दीजिये न?"

डा०—"तेरा ही नाम लच्छन है?"

क०—"नहीं वह हमारा ही छोटा भाई है। बनारस में उस का बाप रहता है, वह हमारा चाचा होता है, उसी ने भेजा होगा।"

डा०—"उसका नाम क्या है?"

क०—"नाम बुधई है। हमारे बाप और वह सगे भाई हैं।"

डा०—"तुम्हारे बाप का नाम क्या है?"

क०—"हमारे बाप का तो खेमई नाम है।"

डा०—"अच्छा तो वह लच्छन कहाँ है ?"

क०—"वह तो बीमार होकर डेरे पर पड़ा है।"

डा०—"कहाँ डेरा है ?"

क०—"डेरा तो मछुआ बाजार में है।"

डा०—"अच्छा अगर तुम चल सको तो साथ चलो। नहीं तो हम रुपया लौटा देंगे तो फिर नहीं मिलेगा।

"अच्छा जी रुपया मत लौटाओ, हम चलते हैं।" कह कर कहार ने झटपट बरतन धो डाला और चट अपने एक साथी को सौंप कर डाक प्यून के साथ चलता हुआ। जब दोनों मछुआ बाजार में पहुँचे, एक मकान में जाकर कहार ने एक आदमी को दिखा दिया। उसको देखते ही डाक प्यून ने कहा—"क्यों लच्छन डुमराँव से कब आया ?"

लच्छन ने कहा—"मै तो डुमराँव गया ही नहीं। चाचा से कई बार कहा, वह नहीं जाने देते। जब से जनम हुआ तब से एक बार भी बाप दादे का डीह नहीं देखा।"

डा०—"अरे यार हम से क्यों छिपाते हो, अभी परसों ही डुमराँव में देखा था और कहते हो, गये ही नहीं।"

ल०—"तुम भी अच्छे गप्पी मिले, हम सात आठ दिन से तो इसी चारपाई पर पड़े हैं, परसों तुमने हम को डुमराँव में कैसे देखा था ?"

अड़ोस पड़ोस वालों से भी जासूस को पता मिला कि लच्छन एक अठवाड़े से बीमार पड़ा है। बीमार भी ऐसा कि चारपाई से किसी तरह उठे तो उठे लेकिन बाहर नहीं जा सकता। कमजोरी के मारे दम क़दम चलने के लायक भी नहीं है।

अब जासूस के अकचकाने की बारी आई। बात क्या है, कुछ जान नहीं पड़ता। यह लच्छन तो इस लायक नहीं है कि डुमरॉव जा सके। तब कुछ देर तक यही मन में विचार कर जासूस ने लच्छन का कार्ड निकाल कर कहा—"अच्छा तो यह तुम्हारी चिट्ठी आई है।"

लच्छन ने हाथ में लेकर देखा और पढ़ कर कहा—"अरे यह तो पुरानी चिट्ठी है। इसी महीने में आई थी।"

डा०—"क्या पहले भी तुमको यह मिल चुकी थी ?"

"हाँ यह तो बहुत दिन की आई है।" अब लच्छन को अकचकाते देख डाक प्यून ने कहा—"तुम को मिली थी तो तुमने किस को दे दिया था ? यह तो हम को डाक में मिली है।"

ल०—"डाक में मिली है ? तो क्या रुपचन मामा ने कहीं डाक के बम्बे में तो नहीं छोड़ दिया।"

डा०—"रुपचन मामा कौन ?"

ल०—"एक ठो आये थे। हम लोग तो नहीं जानते, हमारे काका भी नहीं पहचानते, लेकिन कहते थे कि मामा हैं। हमारी मा तो मर गई इसलिये कोई पहचान नहीं सका।"

"यह कागज भी तुमने उसी को दिया था ?" जासूस ने 'भारत मित्र' दिखा कर पूछा।

लच्छन ने कहा—"हमने तो नहीं दिया था। हमारी कोठी में आता है। खबर का कागज है। यहीं हमारे डेरे में रक्खा था, लेकिन, मालूम नहीं इसको आपने कहाँ से पा लिया।"

डा०—"वह मामा क्या इसी जगह ठहरे थे ?"

ल०—"हाँ ठहरे तो यहीं थे, लेकिन कोठी में बराबर जाते थे। रात को यहीं रहते थे, दिन को न जाने कहाँ कहाँ जाते थे। मालूम नहीं है।"

डा०—"वह कब से तुम्हारे यहाँ ठहरे रहे ?"

ल०—'हमारे बीमार पड़ने के सात दिन पहले ही आये थे।"

डा०—"तुम्हारे बीमार पड़ने पर भी वह कोठी में बराबर जाते रहे ?"

ल०—"हाँ कोठी में तो बराबर ही जाते रहे।"

डा०—"यहाँ से कब गये ?"

ल०—"यहाँ से तो हमारे बीमार पड़ने के दो ही दिन बाद चले गये।"

डा०—'तुमने उनको और भी पहले कभी देखा था ?"

ल०—"नहीं, और तो पहले कभी नहीं देखा था।"

डा०—"तुम घर चलोगे ? अगर चलो तो मैं तुम को बेखर्च के ले चलूँगा।"

ल०—"हम से चला कहाँ जायगा। चारपाई से उतरते ही में तो दम फूलने लगता है।"

डा०—"हम तुमको यहाँ से बग्घी पर ले चलेंगे। वहाँ से बराबर गाड़ी पर डुमराँव चलना होगा। तुमको पैदल तो चलना नहीं होगा।"

ल०—"सो तो है, लेकिन चाचा नहीं जाने देंगे।"

इतने में एक आदमी उसी कमरे में आया। उसको देखते ही लच्छन ने कहा—"चाचा तो आगये।" फिर चाचा से कहा—"काहे चाचा घर जायँ ?"

चाचा—"अरे अभी खर्चा कहाँ है ? "

ल०—"खर्चा यह देते हैं।"

चा०—"इनको क्या काम है ? "

अब डाक प्यून ने लच्छन के चाचा को अलग ले जा कर बहुत कुछ समझाया और दस रुपये का एक नोट देकर कहा—"तुम इनको जाने दो। घर जायगा, वहाँ बीमारी भी दूर हो जायगी। देश का हवा पानी लगेगा तो सब रोग भाग जायगा।"

जब खेमई ने लच्छन से सब हाल सुना तब उसे डाक प्यून को सौंप दिया।

अब डाक प्यून उसे अपने साथ बग्घी में बैठा कर वहाँ से चलता हुआ।

(४)

दूसरे दिन डुमराँव से कोस डेढ़ कोस की दूरी पर दह में धोबी आछोंः आछोंः करके कपड़े धो रहे थे। किनारे पर दूर तक सुन्दर सुथरे कपड़े फैले पड़े थे। एक बूढ़ा धोबी हाथ में कपड़ा सरिया कर गा रहा थाः—

जेहि दिन राम के जनम वाँ ए भाइजीः

वाजेला अवधवा मं ढो · ······ओ ······" ल

थर थर कांपेलाः गरवी रवनवाँ पा—

मुँदई जनमलन सो ········ओ·········र।

बिरहा खतम होते ही दो आदमी इक्के पर सवार दह के पास पहुँच गये। किनारे से थोड़ी दूर पर इक्का खड़ा हुआ। दोनों सवार उतर कर किनारे पर टहलने और कपड़ा देखने लगे। एक सवार कद का बड़ा न बहुत छोटा है। बदन का हट्टा-कट्टा जवान है। सिर पर टोपी नदारद है, बदन में कमीज के ऊपर काले सर्ज

की कोट है। बड़ी बड़ी मुरेरदार मूँछों से चहरा वीर का जान पड़ता है। चौड़े ललाट और शान्त गम्भीरता-व्यञ्जक नेत्रों से बुद्धिमानी की आभा फूटी पड़ती है। काली किनारी की साफ सुथरी धोती बादामी बूट पर शोभा दूनी कर रही है। हाथ में चाँदी मढा मल्लाका बेत की छड़ी है। उमर इस बाबू की ४० वर्ष की होगी। दूसरा क़द में उससे लम्बा, बदन का दुबला है, उमर कोई ५० वर्ष की होगी। दाढ़ी और मूँछ के एक बाल भी काले नहीं हैं। सिर ऊँचे और घेरदार मुरेठे से ढका है। भाव से बाबू का पुराना नौकर मालूम देता है। बात बात में हुजूर कह कर उस बाबू की ताजीम करता है।

धोबी धोबिन अकचकाने लगे थे कि यह दो आदमी कौन इक्के पर आये हैं, न दह के पार जाते हैं न पीछे लौटते हैं। इसी की भावना में सब सिर झुकाये अपना कपड़ा पाट पर पीटने लगे। बिरहा गाने वाले ने अपने बग़ल वाले से कहा—"मालूम होता है डुमरी के साहु के कोई हैं, वहीं जाते हैं।"

उसने कहा, "डुमरी जाते है तो अबेर काहे करते हैं?"

तीसरे ने कहा—"नहीं, कहीं जाना नहीं है। कोई बड़े आदमी हैं, टहलने आये होंगे। मालूम होता है, भोजपुर में किसी के घर पाहुने आये हैं।"

इतने में इक्केवान उनके पास आगया। उससे धोबियों ने पूछा, "डुमरी जावोगे का, भैया?"

इक्केवान ने कहा—"नहीं हो, हिये तक घूमेन आये हैं। हवा खा के टेसन को लौट जाहें।"

बस, सब के मन की अकुलाहट मिट गई। उधर दोनों आदमी चेहलकदमी करते और किनारे के एक एक कपडे देखते जाते थे। एक जगह एक धोती फैली पड़ी थी। उसे दिखाकर टहलने

वाले ने कहा—'क्यों लच्छन ! वह कालेदाग़ वाली धोती तुम पहचान सकते हो कि किसकी है ?"

लच्छन ने कहा—"हाँ, यह तो हमारे मामा की ही है। यही पहन कर वह कलकत्ते गये थे। लेकिन इस में जो काला दाग़ है सो नहीं था।"

चतुर पाठक पहचानते होंगे यह वही जासूस हैं जो डाकप्यून बन कर मछुआ बाजार में लच्छन के घर गये थे और उसे साथ लेकर डेरे पर आये। वहाँ से एक भले आदमी का रूप बनाया और साथ में लच्छन को बूढ़े के रूप में लेकर उसी दिन हवड़ा आये। गाड़ी में सवार होकर दूसरे दिन सबेरे डुमराँव पहुँचे और इक्के पर सवार होकर वहाँ से दह देखने को आये हैं। उसके पीछे जो हो रहा है सो पाठक जानते हैं।

लच्छन की बात सुन कर जासूस ने कहा—"तुम ने अपने मामा का बायाँ हाथ अच्छी तरह देखा था ?"

ल०—"अच्छी तरह देखा तो था। कानी (कनिष्ठिका) उँगली सदा बाँधे रहते थे। जब तक रहे तब तक उनकी उँगली में दरद रहा।"

जासूस ने मन में कहा, ठीक है। वही बदमाश यहाँ तक आया है। फिर पूछा—"यह तुम कैसे जानते हो कि यह धोती वही है ?"

ल०—"यही है साहब। इसकी किनारी में बँगला लिखा है। एक ओर का आँचर फटा हुआ है। देखिये इसमें भी आँचर एक ही ओर है लेकिन यह काला दाग़ नहीं था। हम बराबर उनकी धोती फींचते रहे लेकिन काला दाग़ कभी नहीं देखा।"

'अच्छा ठीक है" कह कर जासूस वहाँ से धोबी के पास आया। उसी बिरहा गाने वाले बूढ़े से पूछा—'क्यों जी, वह कपड़े किसके हैं ?"

धोबी—"आप भी अच्छा पूछते हैं। वह कपड़े क्या एक आदमी के हैं ?"

जा०—"अरे वह उधर वाली किनारीदार धोती जिस पर काला दाग लगा है और एक ओर का आँचर नहीं है।"

धो०—"वह एक मुसाफ़िर की है। पहचानते हैं, लेकिन नाम नहीं जानते।"

जा०—"अच्छा, नाम नहीं जानते तो घर पहचानते हो ?"

धोबी—"घर भी नहीं पहचानते। आज ही कपड़ा देने का वादा है। यहीं वह कपड़ा दे गया था और यहीं से ले भी जायगा।"

जा०—"कब ले जायगा ?"

धोबी—"अब आता ही होगा। दोपहर के बाद आने को बोला था।"

जा०—"अच्छा भाई, जाने दो। उससे कुछ मत कहना। यह धोती बड़ी बढ़िया है। इसी से हम मालिक का नाम जानना चाहते थे। उससे पूछते कि ऐसी बढ़िया धोती कितने दाम पर कहाँ से खरीदी है। मालूम होता तो हम भी लेते। इसकी किनारी पर बड़े रसीले दोहे लिखे हुए हैं।"

धोबी—"क्या लिखा है बाबू हमको भी बतला दीजिये तो वह रसीला दोहरा याद करलें। हमको भी इन बातों से शौक है। कवित्त, दोहरा, चौपइया हम बहुत याद करते हैं।"

जा०—"अच्छा तुमको चाह है तो लो बतलाये देते हैं, उस पर यह दोहे लिखे हैं:—"

जंघ जुगल विपरीत रम्भ पर लहँगा ललित विराज ।
मनहु काम गढ़ ऐंढ़ि मैंढ़ि के ऐंठि चले गजराज ॥

चोली चारु छींट की राजत कंचि त्रिय करत अनेट ।
मनु महेश मनसिज के डर से बैठ यथम्बर ऐंठ ॥

धोबी ने कहा—"बाह बाबू, वही आदमी धोती वाला आता है ।" बस इतना सुनते ही दोनों टहलने वाले वहाँ से दूर हट गये मानों मुसाफिर हैं, धोबी से कुछ बातचीत नहीं है । इधर वह आदमी भी पास आगया । उसका पहनाव-पोशाक भले आदमी का है । मलमल का खूब बढ़िया कमीज़ है । बूताम चाँदी के लगे है । कड़कड़ाते हुए चिकने कफ और प्लेट देखने से विलायती माल मालूम देता है । कमर के नीचे आसमानी रङ्ग की लहर मारती हुई फरमडाँगा की किनारी वाली धोती है । पाँव में काला वार्निस का चमचमाता लैसदार जूता है । हाथ में सींग की काली छड़ी है । सिर पर रेशमी मुरेठा है । आयतान से एक बड़े घर का जवान मालूम देता है । पास आजाने पर जासूस ने देखा तो उसकी दसों उँगली सही सलामत हैं । लच्छन ने भी जासूस के कान में कहा—" यह तो हमारे मामा नहीं हैं । "

जासूस ने—' चुप रहो" कह कर उसका मुँह बन्द किया और टहलते-टहलते धोबी के पास आये । अकड़-बेग ने भी धोबी से आते ही कहा—"क्यों बे धोबी ! धोती तैयार है ? "

धो०—' हाँ सरकार सूखती है । "

अक०—"अरे, सूरज डूबता है तो भी सूखती ही है ?

धो०—"का करें बाबू, तैयार तो बड़ी देर से है । आजकल की घाम ही तेज नहीं, नहीं तो अब तक कभी की सूख गई होती । "

अक०—"तो हम स्टेशन पर से आते हैं । गाड़ी आने का वक्त होगया फिर कैसे बनेगा ?"

घो०—"तो बाबूजी ! आप ले न जाइये, सूख भी तो गयी। गाड़ी के वास्ते तो आपही देर करके आये हैं। आते ही हम अगर आप को हाथ में दे देते तो भी आप गाड़ी नहीं पा सकते थे।"

धोबी इतना कहता हुआ पानी में से निकला और उसकी धोती सरिया कर दे दी। उसने देख कर कहा—"अजी तुमने यह दाग तो छुड़ाया ही नहीं।"

धोबी—"वह तो बाबूजी अलकतरा का दाग़ है। हम धोते धोते थक गये लेकिन नहीं छूटा।"

अक०—"तो फिर तुम्हें इनाम कैसे दें ?"

धो०—"कोई धोबी इस दाग को छुड़ा दे बाबूजी तो हम टाँग की राह से निकल जाँय। हम लोग राज-दरबार का कपड़ा धोने वाले हैं। दूसरे का तो काम ही नहीं करते।"

अक०—"तो लो दो पैसे अपनी धुलाई ले लो। अगर दाग़ छुड़ा देते तो इनाम भी देते। तुमने दाग़ नहीं छुड़ाया इसी से हमारी तबियत खुश नहीं हुई।"

इतने में जासूस ने घड़ी निकाल कर देखी और कहा-"देखो जी लच्छन ! चलो जल्दी अब गाड़ी आया चाहती है।"

लच्छन इक्के वाले को पुकारने गया। इधर जासूस से अकड़बेग ने कहा—"क्यों जनाब आप लोग भी गाड़ी ही पर जायेंगे क्या "

जा०—"हाँ साहब गाड़ी ही पर जाना है।"

अक०—"मैं भी तो साहब गाड़ी ही पर जाने वाला था। हमारा एक साथी स्टेशन पर बैठा है। हम दोनों आदमी तैयार

होकर स्टेशन पर आये तब धोती की याद आयी। वहाँ से इक्के पर आता था। भोजपुर के नाले में आकर घोड़े ने ठोकर ली। इक्का भी गिरा, पहिया टूट गया। इक्के वाले को भी बड़ी चोट आयी। भगवान की दया से मुझे कुछ चोट नहीं आयी। जब देखा कि इक्का अब काम का नहीं रहा तब उस नाले पर से पैदल आया हूँ। आप अपने इक्के पर मुझे विठा लें तो बड़ी दया करें। मैं पैदल चल कर गाड़ी नहीं पा सकूँगा।"

जासूस तो चाहता ही था। पहली बार मंजूर करके कहा—"कुछ परवाह नहीं। आप आइये, शरीफ की इज्जत शरीफ ही समझता है। फिर हमको भी तो उसी गाड़ी पर जाना है।"

इतना कह कर उसको भी उसी इक्के पर चढ़ा लिया। अब तीनों आदमी को विठा कर इक्केवान ने घोड़ा हाँका। सड़क कच्ची लेकिन ठीक थी। बीच में दो तीन नाले पड़े उनको पार करके कोई आधे घंटे में इक्का सब सवारों को लादे डुमराँव के स्टेशन आ दाखिल हुआ।

इक्का ज्योंही स्टेशन के सामने खड़ा हुआ, अकड़बेग उतर पड़ा। जासूस भी लच्छन के साथ उतरा। तीनों मुसाफिरखाने में गये। अकड़बेग ने अपने साथी से कहा—"यार, बड़ी आफत में पड़ गये। इक्का बीच रास्ते में ही जाकर टूट गया। मैं तो वहाँ पैदल गया था। लेकिन लौटती बेर यह बाबू मिल गये; इन्हीं ने हम को अपने इक्के पर यहाँ पहुँचाया है, नहीं तो गाड़ी नहीं मिलती।"

लच्छन ने खूब घोपदार दाढ़ी मूँछ पहना था। इसी से अकड़बेग के साथी ने उसको नहीं पहचाना। लेकिन लच्छन ने झट पहचान कर सिर हिलाया और जासूस से आँखों का टेलिग्राम करके कह दिया कि यही हमारे मामा साहब हैं।

अँधेरा हो चला था। सूर्य देव पश्चिम में छिप चुके थे, सन्ध्या की तिमिर-वरणी छाया गहरी होती जाती थी। इतने में दूसरी घण्टी बजी, गाड़ी दीख पड़ी। हरहराती हुई पेसिंजर डुमराँव के स्टेशन में आ खड़ी हुई। लच्छन के मामा पहले से टिकट ले चुके थे, फिर क्या, झट इण्टर क्लास में दोनों जा बैठे। जासूस ने भी भीतर जाकर इण्टर क्लास के दो टिकट लिये और उसी गाड़ी में उन दोनों के पास वाले कमरे में जा बैठे। टन टन टन, टन टन टन, टन टन टन, घंटा बजा। गाड़ी सीटी देकर चलती हुई।

(५)

गाड़ी दिलदारनगर में पहुँच कर कोई बीस मिनट खड़ी रही। इतने में एक लीला हुई। देखें तो मुसाफिरों की भीड़ में बाबू सब में टिकट ले रहे हैं। रेलवे पुलिस का एक कानिस्टबल "अरे कोई वैरन है भाई, वैरन" कह कर पुकारता है। बाबू—"यह वेरिङ्ग है यह" कह कर गाँठ लादे और गोद में लड़का लिए हुए मुसाफिरों को उनके हवाले करते जाते हैं। अब सब मुसाफिर चले गये, चार रह गये, तीन हबड़े से आते हैं, एक के साथ एक छोटा सा लड़का था। एक के पास बत्तीस सेर, दूसरे के पास अड़तीस सेर, तीसरे के पास साढ़े तेंतीस सेर माल है। सब से तीन तीन रुपये लेकर स्टेशन वालों ने छोड़ दिया। यह लड़के वाला हुगली से आता है। सो हुगली का महसूल उससे लिया गया। वह बारहा चिल्लाया किया, बाबूजी दस बरस का लड़का है।" लेकिन बाबू ने कहा "चुप रहो सुअर, वहाँ बाबू को रुपया देकर बिना टिकट आया है।"

मुसाफिर ने कहा—"तब तो बाबूजी, आप बड़ा धरम करते हैं, एक रुपया वहाँ भी दिया, पूरा महसुल आप लेते हैं, तो किस-

ना पड गया।" बाबू ने कहा—"यह इस वास्ते है कि तुम फिर ऐसा नहीं करोगे।"

इतने में बाबू ने 'आलराइट सर' कहा। गार्ड ने झण्डी दी। गाड़ी सीटी बजा कर चलती हुई। पूछने पर मालूम हुआ कि सकलडीहा से कोई मालगाडी आती थी, इसी वास्त पेसिंजर उसके आने तक ठहरी रही।

गाडी जब सकलडीहा स्टेशन में पहुँची, मोगलसराय जब एक ही स्टेशन रह गया, लच्छन के मामा अपने साथी को जगा कर आप बैंच पर सो गये थे। जासूस ने घात पाकर उसके जेब में हाथ डाला। उसमें दो रुपये छींट के एक रूमाल में बँधे रक्खे थे। जासूस ने इसको अपनी जेब के हवाले किया। फिर हाथ दूसरी ओर के जेब में डाला वह कुछ नीचे दबा था। हाथ डालते ही लच्छन के मामा अकचका कर उठे और झट जासूस का हाथ पकड़ लिया। कहा—"क्यों रे पाजी! चोर कहीं का, जेब में हाथ डालता है।"

जासूस ने काँपती जीभ से कहा—"नहीं सरकार, हम चोर नहीं हैं।"

लच्छन के मामा—"ठीक है, ठीक। मैं समझ गया तू चोर है। तभी डुमराँव के राह से पीछा किया है। मैंने ठीक जाना नहीं। सो इक्के पर चढ़ के वहाँ तक आया, तूने घात नहीं पाया, यहाँ सो जाने पर जेब टटोलता है। तू कलकत्ते का गिरहकट है।"

जा०—"नहीं सरकार............।"

इतने में मामा ने दूसरे जेब में हाथ डाला तो रुपया बँधी रूमाल नदारद। अब तो जकड़ कर जासूस को पकड़ा। इतने में

गाड़ी मोगलसराय के स्टेशन में जा खड़ी हुई। मामा जोर से 'चोर चोर' चिल्लाने लगे। रेलवे पुलिस के कानिस्टवल आये, सब-इन्स्पेक्टर पहुँचे। देखा तो गाड़ी में एक जवान भले आदमी की पोशाक वाले को दो आदमी पकड़े चोर चोर चिल्ला रहे हैं। एक चौथा बूढ़ा बग़ल में चुपचाप बैठा है। सब को पुलिस ने उतारा। पूछने पर बूढ़े ने कहा—"हाँ साहब इन्होंने उसके जेब में हाथ तो डाला था"

जामा तलाशी लेने पर उसके जेब से रुपचन मामा का माल मिला। अब पुलिस वालों ने उस गिरहकट को उसी दम पकड़ लिया और मुद्दई को भी दोनों गवाहों के साथ रोक रखा। जब कानिस्टवल चोर को गारद में बन्द करने के लिये ले गया तब भीतर जाकर चोर ने उससे कहा—"देखो जी हम चोर नहीं, पुलिस के आदमी हैं, चोर वही दोनों हैं। वह बूढ़ा मेरा साथी है। तुम जाकर दारोग़ा साहब को यहाँ भेज दो।"

कानिस्टवल ने कहा—"क्या खूब आप चोर औरों को चोर बनावें। दारोगा साहब और हम तुम्हारे नौकर हैं रे बदमाश?"

इतना कह कर कानिस्टबल ने आँख बदली। कुछ और मुँह से बकना चाहता था कि चोर ने अपनी कमर से एक चीज दिखायी। कानिस्टवल ने उसे देखते ही पीछे हट कर सलाम किया। कमर में जासूस का निशान देख कर कानिस्टबल ने पहचान लिया और अदब से सलाम करके दारोग़ा साहब को बुलाया। दारोग़ा ने गारद में आकर कहा—"क्यों जनाब क्या मामला है?"

उसने कहा—"मामला ऐसा है कि दोनों डुमरॉव के स्टेशन से पाँच हजार का माल चुरा कर भागे जाते हैं। मैं अकेला इन दो-दो पहलवानों से पार नहीं पाता और इन्होंने रास्ते में सकलडीहा स्टेशन से ही उतरने का इरादा किया था। तब मैंने यही सोचा कि इसका कुछ चुराना चाहिये। बस रुमाल चुराली। उसमें रुपये बधे थे। जब नहीं जगा तब दूसरे पाकेट में हाथ डाल कर जगाया। जो बूढ़ा बैठा था वह मेरा कहार है।"

"ओफ! तब तो आपने कमाल किया। माफ़ कीजिये, कहिये अब क्या करना चाहिये।"

"अब उन दोनों को हथकड़ी भर दो। माल जो दो गठरी में लिये हुए हैं वही माल मसरूका है। उसमें शाल, दुशाले, लोई अलवान, और रेशमी कपड़े हैं। सब पाँच हजार की गठरी महाराज के वास्ते कलकत्ते से आयो थी। उसी को गोदाम से इन्होंने उड़ा लिया है।"

दारोगा ने कहा—"हाँ, हाँ, कई रोज हुए तार आया था। वही माल तो नहीं कि ताला बन्द का बन्द ही था और गठरी गायब हो गयी है ?"

"हाँ, हाँ! वही है।" कह कर चोररूपधारी जासूस ने कहा "उनको जल्दी गिरफ्तार करो।" चोर बड़े मजबूत थे। दस कानिस्टबल दो हथकडी लिये उनके पास गये और सब इन्सपेक्टर के आँख देते ही दोनों को हथकड़ी भर दी। गारद से चोर साहूकार बन कर बाहर आया, जो साहूकार बने थे वह चोर हुए। अपराध की ऐसी तुम्बाफेरी यहीं देखने में आयी।

अब दोनों गिरफ्तार होकर गारद में बन्द हुए। दोनों की गठरी खोली गई तो दोनों में शाल, दुशाले और रेशमी कपड़े भरे थे। तार देकर सुगनचन्द सोहागचन्द को बुलाया गया। महाजन ने अपने गुमाश्ते के साथ आकर माल पहचाना। एक कपड़ा भी नहीं गया था। सब फिहरिस्त के मुताबिक़ मिल गया।

अब जासूस ने गारद में अकेले जाकर पूछा—"देखो, अब तो सब माल मिल गया। तुम लोग माल के साथ ही पकड़े गये। अब सच्चा हाल कह दो कैसे चुराया था।"

कुछ भरोसा देने पर लच्छन के मामा ने कहा—"देखो बाबू! हमने जिस तरकीब से चोरी की उससे तो तुम्हारा पकड़ना और बढ़ कर है। हम लोगों को सपने में भी पकड़े जाने का डर नहीं था। अगर ऐसा समझते तो और तरकीब कर डालते, लेकिन खैर, अब तो पकड़े ही गये। नहीं कहने से भी नहीं छूट सकते। सुनो, हम हाल बयान करते हैं।"

(६)

अब लच्छन के मामा ने बयान किया। हम लोग बनारस के रहने वाले हैं। चोरी ही का रोज़गार करने कलकत्ते पहुँचे थे। सुना था कि वहाँ पुलिस वाले बड़े चतुर होते हैं। सो यही देखने गये थे। कलकत्ते जाकर लच्छन के यहाँ पहुँचे। लच्छन का बाप बनारस में रहता है। बनारस से चलते ही उससे लच्छन का हाल, उसका मशहूर महाजन सुगनचन्द सोहागचन्द के यहाँ नौकरी करना, मालूम हो गया था। बस वहाँ जाकर लच्छन के मामा बन गये। सुगनचन्द सोहागचन्द की कोठी में बराबर आना जाना रहा। सब खबर नौकरों से मिलती रही।

एक रोज मालूम हुआ कि डुमराँव के राजा ने पाँच हजार का शाल, दुशाला लोई, अलवान और रेशमी कपड़े माँगे हैं। मैं बराबर भेद लगाता रहा। दो दिन पहिले से मालूम हो गया कि माल परसों जायगा और माल वहाँ से आदमी वाली ले जायगा, वहाँ से पार्सल में रवाना होगा। हम दो साथी थे। एक धर्मशाला में ठहरा था। उसी ने खूब लम्बी चौड़ी सन्दूक तैयार कराथी। उसमें ऊपर से बन्द करने का निशान था लेकिन भीतर से बन्द होता था। मैं उसी में बैठ गया और दो चार ईंट, एक पत्थर का टुकड़ा उसमें रख कर नीचे पयार बिछा कर लेटा। ऊपर से भी साथी ने पयार भर दिया कि मुझे चोट न लगे। मेरे साथी ने एक रुपया देकर उसी कपड़े के पासल के साथ अपना लगेज चढ़वा दिया। आप लगेज रसीद लेकर उसी गाड़ी में सवार हुआ। रात को गाड़ी डुमराँव पहुँची। लगेज रात को नहीं लिया। गोदाम में सन्दूक और पार्सल (कपड़े की गाँठ) दोनों रखे गये। वहाँ अँधेरा था। बाहर से ताला बन्द था। भीतर से मैं सन्दूक खोल कर बाहर निकला और कपड़े की गाँठ उसमें रख कर ईंट, पत्थर, पयार सब निकाल दिया। फिर आप भी भीतर बैठ कर अन्दर से चाभी बन्द कर ली। हमारा साथी सधा था ही। सवेरे आकर उसने रसीद दी और पार्सल छुड़ा लेगया। बाबू लोगों ने कुछ नाह-नूह की, लेकिन उन्हें भी एक रुपया दिया। बोझा भारी कह कर बाबू ने बजन करने का बखेड़ा लगाना चाहा था, लेकिन मेरे साथी ने दो रुपया उसके वास्ते अलग नजर किया। अब कुछ भी रोक टोक नहीं हुआ। कुलियों को मुँह माँगा देकर सन्दूक छुड़ा लेगया। बाहर भोजपुर के पास नाले में जाकर गाड़ी वाले को हम लोगों ने विदा कर दिया। जब वह अपनी आशा से दूना इनाम पाकर चला गया

तब मैं बाहर हुआ। और सन्दूक को वहीं तोड़ फोड़ कर डाल दिया।

"गठरी के दो हिस्से करके दोनों आदमी ने कन्धे पर लिया और डुमराँव की सराय में जा ठहरे। गोदाम में धोती मेरी अलकतरे से चफन गयी थी। उसको धोबी को देदिया। वही धोती हमारी समहुत की थी, इसी से उसके लिये डुमराँव में ठहरे रहे। किसी ने कुछ भेद तो नहीं पाया लेकिन मैं मन में डरता था कि यहाँ की देरी अच्छी नहीं है। सो ही हुआ। न जानें आपने कैसे पता पा लिया।"

ज०—"गोदाम में तुम ने धोती का रङ्ग और हाथ को किवाड़ में पोंछा था ?"

चो०—"हाँ, जब मैं गिरा तब दोनों हाथ और पीठ में अलकतरा चफन गया था। हाथ भी किवाड़ में पोंछा था। जब छूटने का भरोसा नहीं दीखा तब सन्दूक में जा बैठा था।"

बनारस के कोतवाल ने आकर देखा तो पहचाना और कई बार का सजा पाया हुआ पुराना चोर कहा।

जासूस माल के साथ दोनों को गिरफ्तार करके डुमराँव ले गया। डेलीवरी करने वाले बाबू ने चोर के साथी को पहचाना। फिर उसका बयान लेकर जासूस माल के साथ दोनों को कलकत्ते ले गया। वहाँ कानून के अनुसार इन दोनों पर मुक़द्दमा हुआ। अदालत से अपराध उनका साबित होने पर पुराना चोर होने के कारण दोनों दस-दस बरस को क़ैद हुए। जासूस को महाजन की ओर से ५००) इनाम और सरकार से प्रशंसापत्र मिला। अब जासूस खुश होकर दूसरे मुकद्दमे में तैनात हुआ।